किया है। देखिये जहाँ शंकरजीको बढ़ाना है वहाँ (विनयपत्रिकामें) कवि स्वयं कहता है—*'जोग कोटि करि जो गति हरि सों मुनि माँगत सकुचाहीं। बेदबिदित तेहि पद पुरारि पुर कीट पतंग समाहीं॥'*

अस प्रभु छाँड़ि भजहिं जे आना। ते नर पसु बिनु पूछ बिषाना॥ १॥
निज जन जानि ताहि अपनावा। प्रभु सुभाव कपिकुल मन भावा*॥ २॥

अर्थ—ऐसे (प्रणतपाल, परम उदार) प्रभुको छोड़कर जो किसी दूसरेको भजते हैं, वे मनुष्य बिना सींग और पूँछके पशु हैं। (अर्थात् उनमें और पशुओंमें इतना ही अन्तर है कि पशुके सींग और पूँछ होती है, ये ही इनके नहीं हैं; बाकी हैं वे पशु ही)॥ १॥ अपना जन जानकर विभीषणजीको श्रीरामजीने अपना लिया, यह प्रभुका स्वभाव कपिकुलके मनको बहुत अच्छा लगा॥ २॥

नोट—१ (क) *'अस'* उपर्युक्त दोहेमें कहे हुए गुणोंका संकेत कर रहा है। अर्थात् जो कैसा भी कोई पापी, कपटी, कुटिल, सर्वगुणहीन आदि मनुष्य शरणमें आये तो उसका त्याग नहीं करते, ऐसे शरणागतपालक, शरणागतवत्सल, सत्यसंकल्प, दृढ़व्रत, परम उदार हैं, जो भक्तकी वे सब वासनाएँ भी पूरी कर देते हैं, जो उसके मनमें शरणमें जानेके समय वा उसके पूर्व उठी हुई होती हैं। यह अङ्गुल्यानिर्देश 'निश्चय' प्रतिपादक है जो अन्य अर्थको निवृत्त करता है।—*'भजन बिभीषनको कहा फल कहा दियो रघुराज। राम गरीब-निवाजके बड़ी बाँह बोलकी लाज॥'* (वि० १९३) (ख) *'प्रभु'*—क्योंकि रावण-ऐसे समस्त-लोक-विजयी, सुर-मुनि-त्रासकसे उसके निकाले हुए भाईको शरणमें लेकर विरोध लिया। ऐसे समर्थ हैं और सामर्थ्यपर दृढ़ विश्वास है कि रावणके जीते-जी उसके भाईका तिलक कर दिया। ऊपर दोहेमें जो कहा है, उसीके सम्बन्धसे 'प्रभु' कहा। (ग) *'छाँड़ि'* का भाव कि ऐसे प्रभुको छोड़ना न चाहिये। यथा—*'सीतापति से साहिबहि कैसे दीजै पीठि।'* (दो० ४८), *'रे मन सब सौं निरस ह्वै सरस राम सों होहि। भलो सिखावन देत है निसि दिन तुलसी तोहि॥'* (दो० ५१)

वि० त्रि०—केवल वह प्रभु ही स्वतन्त्र है, जीव चाहे जैसा भी हो मायाके परतन्त्र ही है, यथा—*'परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥'* जो स्वयं परतन्त्र है, उसके भजनसे लाभ क्या? *'देव दनुज नर नाग मनुज सब माया बिबस बिचारे। इनके हाथ दास तुलसी प्रभु कहा अपनपौ हारे॥'*

टिप्पणी—१ *'अस प्रभु छाँड़ि भजहिं जे आना।……'* इति। (क) भाव यह कि औरोंको छोड़कर ऐसे प्रभुका भजन करना चाहिये और ये उलटा ही करते हैं; इनको छोड़कर दूसरेको भजते हैं। (ख) बिना पूँछ और सींगके पशुका भाव कि अज्ञानमें वे पशुके समान हैं। क्योंकि जिसको अपने हित-अनहितका ज्ञान है, वह कभी नहीं छोड़ सकता। यथा—*'तुलसी जाके होयगी अंतर बाहर दीठि। सो कि कृपालुहि देइगो केवटपालहि पीठि॥'* (दो० ४९), *'बालमीकि केवट कथा कपि भील भालु सनमान। सुनि सनमुख जो न राम सों तेहि को उपदेसै ग्यान॥'* (वि० १९३) पशुकी शोभा पूँछ और सींगसे है, बिना सींग-पूँछका पशु शोभाहीन है, वैसे ही नर शरीरमें अज्ञान ज्ञानरंकता अशोभा है। ऐसे अज्ञानके कारण वे बिना पूँछ-विषानके पशु कहलाते हैं। [नोट—*'पसु बिनु पूछ बिषान'* से जनाया कि वे सूकर, श्वान, शृगालके सदृश हैं, उन मनुष्योंका जन्म दुःखदायक है और वे नरकरूप हैं, यथा—*'ते नर नरकरूप जीवत जग भवभंजन पद-बिमुख अभागी। नहिं सतसंग भजन नहिं हरि को श्रवन न रामकथा अनुरागी॥……सूकर श्वान शृगाल सरिस जन जनमत जगत जननि दुखलागी॥'* (वि० १४०), *'तिन्ह ते खर सूकर श्वान भले जड़ता बस ते न कहैं कछु वै। तुलसी जेहि राम सो नेह नहीं सो सही पसु पूँछ बिषान न द्वै। जननी कत भार मुई दस मास, भई किन बाँझ, गई किन च्वै। जरि जाउ सो जीवन जानकिनाथ जियै जग में तुम्हारो बिनु ह्वै॥'* (क० ७। ४०)] अथवा, भाव यह कि वे नरपशु हैं, शरीर नरका है पर उनमें अज्ञान पशुका है; दोनों मिलकर वे नरपशु हुए, न केवल नर ही हैं न केवल पशु। पशुकी शोभा सींग और पूँछसे है, वह भी उनके नहीं। तात्पर्य कि नरतनमें भजनका पूर्ण अधिकार है,

* व्र० चं०—'निज……' नयमालिनी, शेष पायकुलक।

मोक्षसाधन केवल नरशरीरमें हो सकता है; यथा—*'हरि तुम्ह बहुत अनुग्रह कीन्हो। साधनधाम बिबुध दुर्लभ तन मोहि कृपा करि दीन्हो।'* (विनय०), पुनः, *'बड़े भाग मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥ साधनधाम मोक्ष कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक सँवारा॥'* (७। ४३। ७); इसीसे हरिभजनके बिना नरतनकी निन्दा करते हैं।

नोट—२ *'निज जन'* अर्थात् जो अनन्यगतिक हैं जिन्हें स्वप्नमें भी दूसरेका आशा-भरोसा नहीं है। कर्म, मन, वचनसे दास। जैसे मनु-शतरूपाजी, सुतीक्ष्णजी, भुशुण्डिजी, हनुमान्‌जी इत्यादि। यथा—*'प्रभु सर्वज्ञ दास निज जानी। गति अनन्य तापस नृप रानी॥'* (१। १४५), *'मन क्रम बचन राम पद सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक'*......*'देखि दसा निज जन मन भाए॥'*.........*'हृदय चतुर्भुज रूप देखावा। मुनि अकुलाइ उठा तब कैसे। बिकल हीन मनि फनिबर जैसे॥'* (३। १०। २, १६, १८, १९), *'मन बच क्रम मोहिं निज जन जाना॥'* (७। ११३। ३), *'तोहि निज भगत राम कर जानी।'*, *'ब्रह्मगिरा भइ गगन गँभीरा॥ एवमस्तु तव बच मुनि ज्ञानी। यह मम भगत करम मन बानी॥'* (७। ११४) श्रीहनुमान्‌जीका तो कहना ही क्या? उन्होंने प्रभुको अपने वशमें ही कर रखा है। ☞ऐसे ही भक्तोंके विषयमें श्रीवचनामृत है कि *'जिन्ह के हौं हित सब प्रकार चित नाहिं न और उपाउ। तिन्हहिं लागि धरि देह करौं सब डरौं न सुजस नसाउ॥'* (गी० ५। ४५), *'तजि मम चरन सरोज प्रिय जिन्ह कहुँ देह न गेह।'* (३। ४५); ऐसे ही भक्त भगवान्‌को अतिशय प्रिय हैं।

टिप्पणी—२ *'निज जन जानि'* का भाव कि—(क) अपनाये तो सभी जीवोंको हैं, क्योंकि सभी उनके ही बनाये हुए हैं, यथा—*'सब मम प्रिय सब मम उपजाए।'* पर इनको 'अपना जन' जानकर अपनाया। (ख) अन्य समस्त-गुण-सम्पन्न होनेसे नहीं अपनाते, अपना जन जानकर अपनाया करते हैं।

टिप्पणी—३ *'प्रभु सुभाव कपिकुल मन भावा'* इति। अर्थात् वानरगण अपनेको कृतार्थ समझते हैं, सोचते हैं कि ऐसे उदार और प्रणतपाल स्वामीके हम सब सेवक हैं, हमको अपना करके क्यों न मानें? (अर्थात् हमको अपना जन मानते हैं, यह उनके उदार और प्रणतपाल स्वभावके योग्य ही है)। प्रभुके स्वभावसे औरोंका भला होता है तो हमारा भला क्यों न होगा। अथवा, भाव कि वानरलोग श्रीरामजीके स्वभावको नहीं जानते थे। उनका स्वभाव कोई जल्दी नहीं जान पाता; इसीसे प्रभु अपने स्वभावके जाननेवाले तीनको ही बतलाते हैं, यथा—*'सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ॥'* जब उन्होंने अपना स्वभाव विभीषणजीसे कहा तब वानरोंने जाना और उनको वह जानकर अच्छा लगा कि हम सबके निर्वाहके लायक कोमल सरल स्वभाव हैं। [*'मन भावा'* का भाव कि शत्रुका भाई, निशाचर आदि होनेका विचार न किया, शरणागत-वत्सलताहीको प्रधान रखा, उसके हृदयकी सरलताको देखकर उसे अपना लिया, यहाँतक कि राजनीतिकी भी परवाह न की तब हमपर अवश्य ही कृपादृष्टि रहती होगी। पुनः, भाव कि प्रभुका वात्सल्यादि गुणयुक्त स्वभाव वाणीसे अकथनीय है, अतः *'मन भावा'* कहा, अर्थात् कहा नहीं जा सकता। (प०, मा० त० सु०)] ☞कपि पशु हैं सो इन तकको प्रभुका स्वभाव प्रिय लगा तब मनुष्योंको यदि न भावे तो वे पशुओंसे भी गत (गये-गुजरे) हैं।

टिप्पणी—४ *'सुनहु सखा निज कहौं सुभाऊ।'* (४८। १) उपक्रम है और *'प्रभु सुभाव कपिकुल मन भावा'* उपसंहार।

☞*'उहाँ निसाचर रहहिं ससंका'* से यहाँतक *'मिला बिभीषन जेहि बिधि आई'* यह ग्यारहवाँ प्रसङ्ग है।

☞धन्य हैं ऐसे हरिजन जिन्हें श्रीरामजी *'निज जन'* जाने।

श्रीसुग्रीव और विभीषणजीका मिलान

१	*अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती।*	*उर कछु प्रथम बासना रही।*.........
	सब तजि भजन करौं दिन राती॥	*अब कृपाल निजभगतिपावनि देहु।*.........
२	*जो कछु कहेउ सत्य सब सोई।*	*जदपि सखा तव इच्छा नाहीं।*
	सखा बचन मम मृषा न होई॥	*मोर दरस अमोघ जग माहीं॥*

३ यह कहकर सुग्रीवको राजा बनाया	*अस कहि राम तिलक तेहि सारा।*
४—दोनों सखा माने गये	
(क) *सखा बचन मम मृषा न होई।*	*जदपि सखा तव इच्छा नाहीं।*
(ख) *सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी।*	*सखा कही तुम्ह नीकि उपाई।*
(ग) *सखा सोच त्यागहु बल मोरे।*	*सखा धर्म निबहै केहि भाँती।*
(घ) मित्रके लक्षण कहे	*सुनहु सखा निज कहौं सुभाऊ।* यहाँ स्वभाव कहा
५ वालीसे रक्षा की—'*बालि त्रास ब्याकुल……सो सुग्रीव कीन्ह कपिराऊ*'	रावणसे त्रिलोकमें रक्षा कोई न कर सकता। प्रभुने रक्षा की—'*रावनक्रोध*………'।
६ *प्रभुकृत सीस कपीस उछंगा।*	*कह लंकेस मंत्र लगि काना* (यह भी सिरहाने बैठे हैं)
७ *जानतहूँ अस प्रभु परिहरहीं। काहे*………॥	*अस प्रभु छाँड़ि भजहिं जे आना।*
८ दोनोंके साथ समान प्रेम-व्यवहार	(क) '*सुनु कपीस लंकापति बीरा*………'
(ख) *भेंटेउ अनुज सहित रघुनाथा*	*अनुज सहित मिलि ढिग बैठारी*
(ग) *तब सुग्रीवहि आयसु दीन्हा।*	*करहु क्रिया परिहरि सब सोका॥*
(घ) *मृतक कर्म बिधिवत सब कीन्हा।*	*कीन्हि क्रिया प्रभु आयसु मानी।*
(ङ) *राम कहा अनुजहि समुझाई। राज देहु सुग्रीवहि जाई॥*	*तुम्ह कपीस अंगद नल नीला।*……… *सारेहु तिलक कहेउ रघुनाथा॥*
(च) *पुर न जाउँ दस चारि बरीसा*	*पिता बचन मैं नगर न जाऊँ॥*
(छ) *राज दीन्ह सुग्रीव कहँ*	*सादर सिंहासन बैठारी।*………
९—दोनोंका कार्पण्य, यथा—	
(क) *मैं पामर पसु कपि अति कामी*	*निसिचर बंस जनम सुरत्राता।*………
(ख) *नाथ बालि अरु मैं दोउ भाई*	*नाथ दसानन कर मैं भ्राता*
(ग) *सादर मिलेउ नाइ पद माथा*	*अस कहि करत दंडवत देखा*
१० *तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा*	*सचिव संग लै नभ पथ गयऊ*
११ *अतिसय जन्म धन्य करि लेखा*	*नयनानंद दानके दाता*
१२ *जब सुग्रीव राम कहुँ देखा*	*दूरिहि ते देखे दोउ भ्राता*
१३ *सुख संपति परिवार बड़ाई।*………	*उर कछु प्रथम बासना रही*
१४ *जो कछु कहेउ सत्य सब सोई*	*एवमस्तु कहि प्रभु*………*इत्यादि*

नोट—३ दोनोंमें जो अन्तर है वह भी स्मरण रखना चाहिये। सुग्रीवजीकी मित्रतामें राजनीति प्रधान है और विभीषणजीमें पूर्ण शरणागति-भक्ति है, यद्यपि सुग्रीवजी भी भक्त हैं केवल राजनीति-सम्बन्धी मित्र नहीं।

'सागर-निग्रह कथा सुनाई'—प्रकरण

पुनि सरबग्य सर्ब उर बासी। सर्बरूप सबरहित उदासी॥ ३॥
बोले बचन नीति प्रतिपालक। कारन मनुज दनुज कुल घालक*॥ ४॥

अर्थ—फिर सब जाननेवाले, सबके हृदयमें बसनेवाले, सर्वरूप (विश्व आपका ही रूप है) और सबसे रहित, उदासी प्रभु नीति-प्रतिपालक वचन बोले। इसका कारण यह कि वे मनुष्यरूप धारण किये हैं और राक्षस-कुलके नाश करनेवाले हैं (अर्थात् ऐश्वर्यके अनुकूल उन्होंने वचन नहीं कहे, किन्तु माधुर्यके अनुकूल कहे हैं। तात्पर्य कि राजा हैं, राजाओंको नीतिका पालन करना ही चाहिये, यथा—'*सोचिय नृपति जो नीति न जाना।*' अतः नीतिके वचन बोले)॥ ३-४॥

* ब्र० चं०—(३) पायकुलक, ११८२ और १२१९ वाँ भेद।

टिप्पणी—१ *'पुनि सरबग्य·········'* इति। (क) *'पुनि'* का भाव कि परमार्थकी बात करके अब व्यवहारकी बात कहते हैं। यहाँ दूसरे प्रसङ्गका आरम्भ करते हैं। प्रथम अपने दासका काम करके उसे राज्य देकर और अपनाकर तब सबके पीछे अपने कार्यकी बात कही। यथा—*'तब रघुपति कपिपतिहि बोलावा। कहा चलै कर करहु बनावा॥'*-वहाँ भी प्रथम हनुमान्‌जीका सम्मान करके और उनको भक्ति देकर तब अपने कार्यकी बात कही थी। और इसी तरह सुग्रीवजीको प्रथम राज्य देकर तब सीता-शोधकी आज्ञा दी थी। पुनः, इसी तरह रावण-वध करके विभीषणको राज्य देकर तब सीताजीको बुलाया। पुनः अपने राज्याभिषेकमें प्रथम सब सखाओं और भाइयोंको स्नान कराके तब स्वयं स्नान किया। यही हाल उनके भक्तोंका है। ये भी प्रथम भगवान्‌को अर्पण करके तब स्वयं ग्रहण करते हैं।—इससे प्रभुका वचनामृत चरितार्थ होता है कि **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'** (गीता ४। ११)

श्रीलमगोड़ाजी—श्रीरामराज्यकी धर्मपरक नीतिमें मित्रताका लक्षण श्रीरामजीने सुग्रीवजीसे यही कहा है कि *'देत लेत मन संक न धरई।'* इसमें देना पहले कहा तब लेना। इसका उलटा तो बनियापना और स्वार्थ है, इसीसे तो वहाँ 'लेन-देन' होता है।

टिप्पणी—२ (क) 'सर्वज्ञ' से बहिर्यामी (बाहरकी सब जाननेवाले) और *'सर्ब उरबासी'* से अन्तर्यामी अर्थात् भीतरकी सब जाननेवाले हैं। इस तरह जनाया कि सबके भीतर और बाहरकी जानते हैं, उनसे कुछ भी छिपा नहीं है। यथा—*'ग्यानहू गिराके स्वामी बाहेर अंतरजामी, इहाँ क्यों दुरैगी बात मुखकी औ हियकी।'* (वि० २६३) पुनः, सर्वज्ञसे यह भी जनाया कि भूत, भविष्य, वर्तमान सबका आपको स्वतः सर्वदा ज्ञान है। अन्तर्यामी कहकर सर्वरूप कहा, इससे जनाया कि व्याप्य और व्यापक दोनों हैं। उदासी अर्थात् शत्रु-मित्ररहित हैं। अथवा, (ख)—सर्वज्ञ हैं इससे जो होनहार है वह सब जानते हैं। सर्वउरवासी हैं अतः जानते हैं कि मन्त्री क्या कहेंगे। सर्वरूप हैं अतः जिसे बाँधना है वह स्वयं अपने ही हैं। [सिन्धुका कुछ भी भय नहीं है क्योंकि सर्वरूप हैं। (पं०)]।

यदि कोई शंका करे कि 'सर्वरूप हैं तो समुद्रके बन्धनसे इनका भी बन्धन हो गया', तो उसपर कहते हैं कि ऐसा नहीं है, वे सर्वरूप होते हुए भी सर्वरहित (सबसे अलग) भी हैं। यथा—*'अग जग मय सब रहित बिरागी।'* (१। १८५। ७) यदि कोई कहे कि 'उनके तो शत्रु-मित्र हैं, वे रावणसे शत्रुता रखते हैं; इसीसे उसके लिये यह उद्योग कर रहे हैं', तो उसपर कहते हैं कि ऐसा नहीं है, उनका कोई न शत्रु है न मित्र, वे उदासीन हैं। यह लीला है, सर्वज्ञ होकर भी पूछते हैं कि *'केहि बिधि तरिय जलधि गंभीरा'।* सर्वउरवासी भी सुग्रीव एवं विभीषणसे पूछते हैं मानो इनके हृदयकी जानते ही नहीं। सर्वरूप हैं, अतः समुद्र भी आपका ही रूप हुआ तब किससे तरनेके लिये कहते हैं? मकर, उरग सब वे ही हैं, तब ग्रास कौन करेगा? सर्वरहित होकर इस तरह पूछते हैं मानो सबमें लिप्त हैं और उदासी हैं पर जगत्‌के प्रपञ्चकी बात करते हैं। इत्यादि सब क्यों? क्योंकि नरनाट्य करते हैं।

टिप्पणी ३—*'बोले बचन नीति प्रतिपालक।·········'* इति। (क) नीति है कि मन्त्रीसे राय लेकर तब राजा कार्य करे। यथा—*'जद्यपि प्रभु जानत सब बाता। राजनीति राखत सुरत्राता॥'* (४। २३। १३) ऐसा वचन बोलनेका कारण बताते हैं कि आप मनुष्यरूप धारण किये हुए हैं, इसीसे अज्ञानीकी तरह बात पूछते हैं और रावणकी मृत्यु मनुष्यके हाथसे होनी है इससे राक्षस-कुलके विनाशके लिये मनुष्योंकी-सी बातें करते हैं।

वि० त्रि०—सरकारने नरावतार धारण किया है, अतएव ऐश्वर्याधिष्ठात्री महाशक्तिसे काम नहीं ले रहे हैं, माधुर्याधिष्ठात्री महाशक्तिका आश्रयण किये हुए हैं। इसलिये नीतिके अनुसार कार्य करते हैं। सबकी सम्मति ले रहे हैं। नीति यही है कि सहसा कार्य नहीं करना चाहिये, विचारपूर्वक कार्य करनेवालेको ही सफलता प्राप्त होती है, यथा—**'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्। वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥'** निशिचरहीन पृथ्वी करनेकी प्रतिज्ञा कर चुके हैं, उसके पूरा करनेके लिये समुद्रोलङ्घन अनिवार्य है। अतः समुद्र-सन्तरणकी विधिपर विचार करना चाहते हैं।

सुनु कपीस लंकापति बीरा। केहि बिधि तरिअ जलधि गंभीरा॥ ५॥
संकुल मकर उरग झष जाती। अति अगाध दुस्तर सब भाँती*॥ ६॥

अर्थ—'हे वीर कपीश सुग्रीव! हे वीर लंकापति विभीषण! सुनो! यह गहरा समुद्र कैसे पार किया जाय?'॥ ५॥ यह मगर, सर्प एवं अनेक जातिकी मछलियों (वा मत्स्यविशेष) से भरा हुआ है, अत्यन्त गहरा है और सब प्रकारसे इसका पार करना कठिन है॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) सुग्रीव पहलेके सखा हैं, विभीषण अब सखा हुए, अतः पहले सुग्रीवको सम्बोधन किया। यह भी नीति है। [सुग्रीवसे पहले पूछा क्योंकि इनकी सेनाको पार उतरना है, ये सेनाके बलको जानते हैं कि वानर किस प्रकार पार जा सकेंगे—उड़कर, तैरकर या सेतुहीके द्वारा। यदि सेतु ही बाँधना हो तो उसका सामान एकत्र किया जाय। विभीषणजीसे इसलिये पूछा कि ये इसके समीप ही रहते हैं, इसके भेदको जानते हैं और पार जाकर इनके शत्रुको मारकर इनको राज्य देना है। सुग्रीव पहले न बोले क्योंकि इसके विषयमें विभीषण, जो तटपर ही रहते हैं, विशेष जान और कह सकते हैं। जब भेद मिल जायगा, तब जो कुछ करना उचित होगा वह करेंगे। (रा० शं० श०) विशेष आगे चौ० ७ की टिप्पणी १ देखिये]। (ख) *'बीरा'* अर्थात् तुम वीर हो, समुद्रका पार करना वीरताका काम है। [इसकी गम्भीरता नष्ट करनेमें आप सब समर्थ हैं। यथा—*'सोखहिं सिंधु सहित झष ब्याला। पूरहिं न त भरि कुधर बिसाला॥'*.........*ऐसेइ बचन कहहिं सब कीसा॥'* (५५। ६-७) जैसे यह अम्बुपति है वैसे ही आप कपिपति और लंकापति हैं; परस्पर सामर्थ्ययुक्त होनेसे बताइये कि कैसे पार हों। (मा० त० सु०)] इसीसे प्रथम विभीषणजीने वीरताकी बात कही कि *'कोटि सिंधु सोषक तव सायक।'* *'गंभीरा'* अर्थात् पानी बहुत है, इससे उसमें चलकर पार नहीं हो सकते। [शत्रुको छोटा मानकर उसके लिये अल्प उपाय करनेसे हानि होती है। इसीसे प्रभुने सिन्धुको अगाध, गम्भीर, अति दुस्तर कहा। राजनैतिक दृष्टिसे मन्त्र पूछनेसे उनकी बुद्धिमत्ताकी परीक्षा भी हो जायगी। दोनोंको वीर विशेषण दिया, क्योंकि दोनों सखा हैं, एकको ही वीर कहते तो दोनोंमें वैमनस्य हो जाना सम्भव था जिससे राजकार्य बिगड़ जाता है। (पं०) दोनों वीर हैं ही। वाल्मीकीयमें सुग्रीवकी वीरता स्पष्ट ही है और विभीषण भी रावणसे अकेले ही लड़े हैं, यह तो मानसमें ही देख लीजिये]।

टिप्पणी—२ *'अति अगाध दुस्तर सब भाँती।'* (क) एक बार 'गम्भीर' कह चुके, अब फिर वही बात कही। गम्भीर और अगाध एक ही बात है। दो बार कहकर जनाया कि इसकी गहराई अधिक बाधक है। (ख) *'सब भाँती'* अर्थात् गम्भीरतासे, चौड़ाईसे, अपने स्वरूपसे, मकर आदि अनेक जीवों इत्यादि सब तरहसे कठिन है; न उसमें चलकर जा सकें, न तैरकर जा सकें, न कूदकर लाँघा जा सके।

कह लंकेस सुनहु रघुनायक। कोटि सिंधु सोषक तव सायक॥ ७॥
जद्यपि तदपि नीति असि गाई। बिनय करिअ सागर सन जाई†॥ ८॥

अर्थ—श्रीविभीषणजीने कहा—हे रघुनायक! सुनिये, यद्यपि आपका बाण करोड़ों समुद्रोंको सोखनेवाला है तथापि नीति ऐसी कही गयी है कि [प्रथम अपना पराक्रम या पुरुषार्थ न करे, पहले सामनीति बरते, यथा—*'जो मधु मरै न मारिये माहुर देइ सो काउ'* (दो० ४३३)] सागरसे जाकर प्रार्थना कीजिये॥ ७-८॥

टिप्पणी—१ *'कह लंकेस.........'* इति। श्रीरामजीने तो सुग्रीवजीसे भी पूछा था पर उन्होंने उत्तर न दिया। कारण कि—उन्होंने विभीषणको बाँध रखनेकी सलाह दी थी, उसे प्रभुने न स्वीकार किया, इसी तरह अब समुद्रको बाँधनेकी यदि राय देंगे तो इसे भी न मानेंगे और समुद्र बिना (सेतु) बाँधे पार उतरना हो नहीं सकता। विभीषणजी विनय करनेकी राय देते हैं। श्रीराम-लक्ष्मण दोनों भाई वीर हैं, यह बात वीरोंको शोभा नहीं देती कि छोटेसे प्रार्थना करें। पर हमारी बात न मानेंगे जैसा आगे स्पष्ट

* ब्र० चं०—पायकुलक।

† ब्र० चं०—१२०९ वाँ, ११९३ वाँ भेद, पायकुलक।

है। अतएव सुग्रीव चुप रहे। अथवा, सुग्रीवकी पारी हो चुकी है, यथा—'*कह प्रभु सखा बूझिये काहा। कहै कपीस सुनहु नरनाहा॥*' (४३। ५) अब विभीषणजीकी बारी है; आगे जाम्बवंतके बोलनेकी बारी आवेगी,—'*सुनहु भानुकुलकेतु जामवंत कर जोरि कह।*' (लं० मं०); अतएव यहाँ विभीषण ही बोले। [अथवा, सुग्रीवने विचार किया कि प्रभु इनको स्वीकार कर चुके हैं और मन्त्र भी पूछा है, अब इससे इनके हृदयका भाव भी हमारे और रावणके विषयमें प्रकट हो जावेगा। अतएव न बोले और विभीषणजी अपनी सरलता और रावणके साथ अपना वैर लक्षित कराते हुए सुन्दर नीतियुक्त वचन बोले। (अज्ञात। प्र० सं०)]

टिप्पणी—२ '*रघुनायक*' का भाव कि आप रघुवंशशिरोमणि हैं, मर्यादापुरुषोत्तम हैं; अतएव मर्यादाका पालन करते हुए काम कीजिये।

टिप्पणी—३ '*कोटि सिंधु सोषक*''''''''' इति। श्रीरामजीने माधुर्यभावसे पूछा और विभीषणजीने ऐश्वर्यभावसे उत्तर दिया। श्रीरामजीने इस समुद्रको '*अति अगाध दुस्तर सब भाँती*' कहा। विभीषणजी उसको अत्यन्त लघु दिखा रहे हैं—यह समुद्र क्या है? ऐसे-ऐसे असंख्य समुद्र भी हों तो आपका एक बाण उन्हें सोख लेनेको पर्याप्त (काफी) है। इसी प्रकार जाम्बवंतजी, भरद्वाजजी, वाल्मीकिजी, अगस्त्यजी आदि जो प्रभुका ऐश्वर्य जानते हैं उनसे जब प्रभुने माधुर्यमें कुछ पूछा तब उन्होंने भी प्रभुकी इसी प्रकार बड़ाई कहकर, ऐश्वर्य जानकर बात कही, यथा—

प्रश्न	उत्तर
१—*अब बिलंब केहि काम—*	'*सुनहु भानुकुलकेतु जामवंत कर जोरि कह।*'
करहु सेतु—	'*नाथ नाम तव सेतु नर चढ़ि भवसागर तरहिं॥*
उतरइ कटक—	*यह लघु जलधि तरत कति बारा।*'
२—*नाथ कहिअ*	'*मुनि मन बिहँसि राम सन कहहीं।*'
हम केहि मग जाही—	'*सुगम सकल मग तुम्ह कहँ अहहीं।*'

टिप्पणी—४ विशेष अ० १२५-१३१ और आ० १३ (३—५) देखिये।

टिप्पणी—५ '*जद्यपि तदपि नीति अस गाई*' इति। (क) प्रभुने नीतिप्रतिपालक वचन कहे, इसीसे विभीषणजी नीतिका प्रमाण देकर कह रहे हैं। सागरसे विनय करना नीतिका पालन है। यथा—'**एवमुक्तस्तु धर्मज्ञः प्रत्युवाच विभीषणः। समुद्रं राघवो राजा शरणं गन्तुमर्हति॥**' (वाल्मी० ६। १९। ३०-३१) विभीषणजीने कहा कि श्रीराघवजी! समुद्रकी शरणमें जाना चाहिये। वाल्मीकीयमें श्रीहनुमान्‌जी तथा श्रीसुग्रीवजीने विभीषणजीसे प्रश्न किया है। अतः उन्हींको उन्होंने उत्तर दिया। वाल्मी० में 'शरण' शब्द आया है। अतः '*बिनय करिय सागर सन*' का अर्थ है कि समुद्रकी शरण जाइये। इस शब्दमें यह ध्वनि है कि यदि वह रास्ता न दे अथवा उपाय न बताये तो वह पापमय समझा जायगा, क्योंकि '*सरनागत कहँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि। ते नर पामर पापमय*''''''''।' यह दोष आ जानेपर वह दण्डका भागी होगा, तब उसे बाणद्वारा सोख लिया जायगा। यही विचारकर श्रीरामजी समुद्रतटपर बैठे। यथा—'**अद्य मे तरणं वाथ मरणं सागरस्य वा।**' (वाल्मी० ६। २१। ८) इति '**रामो धृतिं कृत्वा**''''''''।' (ख) '*सागर*' शब्द साभिप्राय है। भाव कि सागर आपके पुरुषों (पूर्वजों) द्वारा उत्पन्न हुआ है, अतः उससे प्रार्थना करना उचित है, यथा—'*प्रभु तुम्हार कुलगुर जलधि।*' (ग) '*सागर सन जाई*' अर्थात् उसके समीप जाइये, यथा—'*सिंधु समीप गये रघुराई।*' तात्पर्य कि यहाँ बैठे-बैठे प्रार्थना करनेसे उसपर भार न पड़ेगा, वह सोचेगा कि अपनी सेनामें बैठे हैं, हमारे ऊपर (अर्थात् सहारे या धन्ना दिये) थोड़े ही बैठे हैं।

दो०—प्रभु तुम्हार कुलगुर जलधि कहिहि उपाय बिचारि।
बिनु प्रयास सागर तरिहि सकल भालु कपि धारि*॥५०॥

* ब्र०चं०—मच्छ दोहा।

अर्थ—हे प्रभो! समुद्र आपके कुलका पुरुषा (बड़ा) है। वह विचारकर उपाय कहेंगे। सब भालु-वानर-सेना बिना परिश्रम सागरके पार हो जायगी॥ ५०॥

टिप्पणी—१ (क) कुलगुरु है; अतः उसका उल्लंघन करना या सोख लेना उचित नहीं। प्रथम दण्डनीति न चाहिये, पहले सामनीतिसे काम लेना चाहिये, अतएव आप प्रथम कुलगुरु समझकर विनय करें। वह अपना कुल समझकर उपकार करेगा। (ख) *'कहिहि उपाय बिचारि।'* भाव कि हमारे विचारमें कोई उपाय नहीं आता, यह तो न बाँधा जा सकने योग्य है न तैरकर और न कूदकर पार किये जाने योग्य है। इसके पार होनेका उपाय यही बतायेगा। क्योंकि यह कुलगुरु है, इसका सहायता करना उचित ही है। यथा—*'जलनिधि रघुपति दूत बिचारी। तैं मैनाक होहि श्रमहारी॥'* (१। ९) यथा—**'खानितः सगरेणायमप्रमेयो महोदधिः। कर्तुमर्हति रामस्य ज्ञातेः कार्यं महोदधिः॥'** (वाल्मी० ६। १९। ३१) अर्थात् श्रीरामके पूर्वज सगरने इस अपार महासागरको खोदा था। इस सागरको अपने सजातीय राघवका कार्य अवश्य करना चाहिये। विशेष १ (९) में देखिये। (ग) *'बिनु प्रयास'* का भाव कि और सब उपायोंमें परिश्रम होगा और उसके बताये हुए उपायमें श्रम न होगा। यह आगे स्पष्ट ही है—*'रामप्रताप सुमिरि मन माहीं। करहु सेतु प्रयास कछु नाहीं॥'*

२—विभीषणजीने समुद्र पार करनेका उपाय कुछ न बताया, उसे समुद्रके ही अधीन रखा। इनके कुछ समझमें न आया कि क्या कहें, क्योंकि ये संत हैं, न बन्धन करनेको कह सकें और न सोखनेको। इन्होंने उसका मान करनेकी ही राय दी; क्योंकि संत *'सबहि मानप्रद आपु अमानी'* होते हैं।

श्रीलमगोड़ाजी—महाकाव्य कलामें सभी (वस्तुओं) के अभिमानी देवता माने जाते हैं। अंग्रेजी पढ़े मित्र 'Tiber Father Tiber to whom the Romans pray' वाली बात स्मरण करें। पर हमारे यहाँ केवल कलाकी बात नहीं है। आधिदैविक पथके विचारसे सभीके अभिमानी देवता तथा जीव माने जाते हैं। जहाँ किसी चेतन केन्द्रके सम्बन्धसे विशेष संगठन होता है। अब तो भौतिक विज्ञान भी वृक्षादिमें जीव मानने लगा है और meta-biology अभौतिक जीव-विज्ञानमें तो विकासवादको चैतन्य अर्थात् रचनात्मक (Creative Evocutive) माना जाने लगा है। हमारे तर्कप्रधान और पुराणोंको न माननेवाले भाई भी सोचें कि सामवेदके भाष्य० पृ० ८३८ पर श्रीजयदेव विद्यालंकारने उस मन्त्रपर टिप्पणी करते हुए, जिसमें जल, औषध, वनस्पति आदिमें जीव माना है, लिखा है कि फल-वृक्षादिमें भी वही जीव है। जो सज्जन वैसा न भी मानें वे उतना तो अवश्य कलाके नाते मानें जितना अंग्रेज भाई मिल्टन आदिकी कलाको पढ़ते समय मान लेते हैं, नहीं तो आनन्द न आयेगा।

सखा कही तुम्ह नीकि उपाई। करिअ दैव जौं होइ सहाई॥ १॥
मंत्र न यह लछिमन मन भावा। राम बचन सुनि अति दुख पावा॥ २॥

अर्थ—हे सखा! तुमने अच्छा उपाय बताया है, उपाय करें, देखो जो दैव सहायक हो॥ १॥ यह राय लक्ष्मणजीके मनको न रुची, श्रीरामजीके वचन सुनकर उन्होंने अत्यन्त ही दुःख पाया॥ २॥

प० प० प्र०—*'सखा'* इति। यद्यपि विभीषणजी दास्यभावसे शरणमें आये हैं तथापि लंकेश्वर होनेसे भगवान् व्यवहारमें माधुर्य लीलामें उनको सखा ही मानते हैं। ☞इससे यह उपदेश मिलता है कि अन्तरंगके पारमार्थिक कैसे भी क्यों न हो, जिसका जैसा बाह्य व्यावहारिक अधिकार होगा उसी प्रकार उससे व्यवहार करना चाहिये।

टिप्पणी—१ (क) श्रीरामजीका स्वभाव है कि सबका सम्मान करते हैं। इसी प्रकार सुग्रीवसे कहा था—*'जो कछु कहेहु सत्य सब सोई। सखा……॥'* (४। ७। २३) (ख) *'सखा'* का भाव कि जैसा सखाका धर्म है वैसा ही आपने अच्छा उपाय कहा। (ग) *'जौं'* से जनाया कि दैवकी सहायतामें संदेह है। प्रभु त्रिकालज्ञ हैं, वे जानते हैं कि विनयसे काम न चलेगा, काम दंडसे होगा—ये बातें आगे प्रभु अपने वचनसे स्वयं स्पष्ट करते हैं, यथा—*'ऐसेइ करब धरहु मन धीरा।'* माधुर्यके अनुकूल संदेह कहा।

माधुर्यके अनुकूल यह सिद्धान्त हुआ कि सामसे काम न होगा। (घ) उपाय करें जो दैव सहायक हों। इस कथनसे यह जनाया कि उपाय करे और उसमें देवताका भरोसा रखे। उपाय करनेपर जब देवता उसमें सहाय होते हैं तब कार्य सिद्ध होता है, यथा—*'तदपि एक मैं कहौं उपाई। होइ करै जौं दैउ सहाई॥'* (१। ६९। १) *'राम करहु सब संजम आजू। जौं बिधि कुसल निबाहै काजू॥'* (२। १०। ३)

टिप्पणी—२ *'मंत्र न यह लछिमन मन भावा'* इति। (क) जब कोई श्रीरामजीके विरुद्ध कोई धर्मकर्मकी बात कहता है जिससे उनकी न्यूनता वा अपमान झलकता है, तब लक्ष्मणजीको नहीं अच्छा लगता। वे उसे नहीं सह सकते। उदाहरण, यथा—*'पुनि कछु लषन कही कटु बानी।'* (अ० ९६। ४), *'कही जनक जसि अनुचित बानी।'* (१। २५३। २), तथा *'आजु रामसेवक जस लेऊँ। भरतहिं समर सिखावन देऊँ॥'* (२। २३०। ३) देखिये। अर्थात् पिता, ज्ञानशिरोमणि जनक और भाईको भी कुछ न समझा। [परशुरामको भी इसीसे कुछ न समझा था, यथा—*'सुनि मुनि बचन लषन मुसुकाने। बोले परसु धरहि अपमाने॥'* (१। २७१। ६) देखिये] तथा यहाँ विभीषणको, दैवको और कुलगुरु सागरको कुछ न माना-समझा, तीनोंकी अवहेलना की। *'मंत्र न यह लछिमन मन भावा'* यह विभीषणको कुछ न समझना है। *'नाथ दैव कर कवन भरोसा'* यह दैवके प्रति कहा। और *'सोखिअ सिंधु करिय मन रोषा'* यह कुलगुरुको न मानना है। अथवा, (ख) जिनके कोपसे चौदहों भुवन क्षणभरमें भस्म होते हैं, उन (लक्ष्मणजी) के स्वामीको दूसरेसे प्रार्थना, विनती करनेको कहते हैं; अतएव यह मन्त्र *'न भावा'*। इससे तो वे कायर समझे जायँगे। रावणने कह ही डाला कि *'जौं असि मति सहाय कृत कीसा। सहज भीरु कर बचन दृढ़ाई। सागर सन ठानी मचलाई॥ मूढ़ मृषा का करसि बड़ाई। रिपु बल बुद्धि थाह मैं पाई॥'* (५६। ४-६)

मा० त० सु०—न भाया; क्योंकि यह समुद्र रावणका प्रबल रक्षक है, इसीके बलसे तो रावण उद्धत हो रहा है। अतः इससे प्रार्थना करना रावणसे प्रार्थना करनेके तुल्य है।

टिप्पणी—३ *'अति दुख पावा'* का भाव कि विभीषणजीकी राय सुनते ही दुःख हुआ और श्रीरामजीने उसे स्वीकार कर लिया; इससे 'अति दुःख' हुआ। क्योंकि एक तो विनती करनेसे ही बलकी हीनता (असमर्थता) व्यंजित होती है, उसपर भी दैवकी सहायता हो, यह चाहना; इससे तो बलकी अत्यन्त हीनता दर्शित होती है। तात्पर्य कि ऐसे पुरुषार्थीको ऐसा वचन कहना न चाहिये। अथवा समुद्रका और दैवका भरोसा है, यह सुनकर अति दुःख पाया। यदि संदेहका वचन न कहते तो अति दुःख न होता।

प० प० प्र०—१ यह कार्य अपनी इच्छाके विरुद्ध हुआ, इससे लक्ष्मणजीको दुःख हुआ हो, यह बात नहीं है। मानसके लक्ष्मणजीके स्वभावकी यह विशेषता है कि श्रीरामजीका अपमान, तिरस्कार देखनेमें आता है, या कोई व्यक्ति ऐसा कार्य करता है जिससे श्रीरामजीको व्यर्थका क्लेश हो, वहाँ उनसे सहा नहीं जाता, वे तुरत क्रुद्ध होकर रामापमानादि कर्ताको दण्ड देनेको उतारू हो जाते हैं। पर यहाँ श्रीरामजी स्वयं स्वापमानकारक और क्लेशदायक साधन करनेको तैयार हो गये हैं, तब क्या करें? उनपर क्रोध तो कर ही नहीं सकते। अतः अति दुःख हुआ। जहाँ क्रोध अगतिक होता है, वहाँ उसका रूपान्तर दुःख और शोकमें होता है।

प० प० प्र०—२ जिन लक्ष्मणजीको श्रीरामजीकी सेवा छोड़कर भरतजीसे मिलनेमें भी अत्यन्त संकोच हुआ था वे ही यहाँ बिना पूछे कड़े शब्दोंमें अपना मत कहते हैं—यह रामप्रेमका अलौकिक उदाहरण है।

श्रीलमगोड़ाजी—श्रीलक्ष्मणजी कर्मवीर हैं। इसीसे वे कमजोरी (असमर्थता, कायरता) की बात पसंद नहीं करते। जो लोग रामायणको परिवारमें गुलामी सिखानेवाली पुस्तक कहते हैं वे सोचें कि विचारकी यह स्वतन्त्रता है कि बड़े भाईको भी, घुमाकर ही सही, कादर और आलसी कह दिया गया, पर उनके 'नाथ' होनेको स्वीकार करते हुए फिर घुमाकर सिद्धान्त रूपमें बात कही गयी है, जिस रूपमें ही छोटेको कहना उचित था।

पर संयमित जीवनमें यह भी सोचनेकी बात है कि एक सामाजिक संगठनका एक ही मुखिया होता है और अब तो समाजशास्त्र (Sociology & Civics) में भी परिवारको ही समाज-संगठनकी पहली

श्रेणी माना गया है; यहाँतक कि Count Tolstoy ने भी उसे समाज-सेवाकी पहली सीढ़ी कहा है। इसीसे लखनलालजी भी विचारोंमें स्वतन्त्र होते हुए भी रामाज्ञाका भंग नहीं करते। आजकलका छोटोंका बड़ोंके प्रति व्यवहार स्वतन्त्रता (Liberty) नहीं है किन्तु स्वच्छन्दता (license) है।

नोट—१ श्रीरामजीने जो यह कहा कि *'करिअ दैव जौं होइ सहाई'* इन शब्दोंको सुनकर दुःख हुआ। कारण कि इन शब्दोंसे यह निश्चित होता है कि वह विनय करनेमें सहायता न करेगा। तब उससे विनय क्यों की जाय? भाव कि आप समर्थ श्रेष्ठ क्षत्रिय हैं, आप दैवकी प्रतिकूलताको दूर कर सकते हैं। असमर्थ लोग भाग्यका अवलम्ब लेते हैं। वस्तुतः भाग्य कोई वस्तु नहीं, पुरुषार्थके सामने वह कोई भी कार्य सिद्ध नहीं कर सकता। यथा—'**यथा ह्येवमशौण्डीरं शौण्डीरः क्षत्रियर्षभः। किं नाम कृपणं दैवमशक्तमभिशंससि॥**' (वाल्मी० २। २३। ७) कर्तव्यशील शूरवीरोंको दैवका सहारा कैसा?

नोट—२ श्रीरामजीने यह जानकर भी फिर समुद्रसे विनयवाला मत क्यों मान लिया, इसका उत्तर *'माँगत पंथ कृपा मन माहीं।'* (५६। ३) है। विभीषणपर कृपा, समुद्रपर कृपा, समुद्रतटवासियोंपर कृपा, नल-नीलपर कृपा इत्यादि कृपा-ही-कृपा है। दूसरे श्रीरामजी धर्मात्मा हैं। समुद्र नदी-नदपति है, तीर्थ है। तीर्थपर त्रिरात्रि निवासका नियम है। वह भी पूरा होगा। इसीसे वाल्मीकिजीने यहाँ *'नयज्ञो धर्मवत्सलः।'* (६। २१। ११) विशेषण दिया है।

नाथ दैव कर कवन भरोसा। सोखिअ सिंधु करिअ मन रोसा॥ ३॥
कादर मन कहुँ एकु अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा॥ ४॥
सुनत बिहँसि बोले रघुबीरा। ऐसइ करब धरहु मन धीरा॥ ५॥
अस कहि प्रभु अनुजहि समुझाई। सिंधु समीप गए रघुराई*॥ ६॥

अर्थ—हे नाथ! दैवका क्या भरोसा है? मनमें रोष कीजिये और समुद्रको सोख लीजिये (भाव कि जब आप स्वयं दैवके भरोसेमें सन्देह करते हैं तब उसका कौन भरोसा? यदि आपके मुखसे निकलता कि दैव सहायता करेगा तो वह अवश्य सहायता करता और तब उसका भरोसा करना उचित होता)॥ ३॥ कायरके मनका एक यही (दैव) आधार है और आलसी (पुरुषार्थहीन) लोग दैव! दैव! पुकारा करते हैं (अर्थात् वीर और उद्योगी लोग दैवका आधार नहीं लेते। कायर और आलसीसे पुरुषार्थ नहीं होता, इससे वे दैवका आधार लेते हैं। कायर अपना कादरपन छिपानेके लिये मनमें दैवका आधार लेते हैं और आलसी प्रकट दैव-दैव पुकारते हैं। आलस प्रकट होनेपर कुछ निन्दा नहीं होती)॥ ४॥ यह सुनते ही हँसकर रघुवीर श्रीरामजी बोले कि ऐसा ही करेंगे, मनमें धीरज रखो॥ ५॥ ऐसा कहकर प्रभुने भाईको समझाया, फिर वे रघुराई श्रीरामजी समुद्रके समीप गये॥ ६॥

प० प० प्र०—*'नाथ'* इति। यह शब्द दुःखाभिभूत होकर ही उच्चारण किया गया है। इस एक शब्दके उच्चारणमें ही उन्होंने अपनी सब भावनाएँ प्रकट कर दी हैं। भाव कि—(क) आप अनाथ, असमर्थ नहीं हैं, आप समर्थ हैं, अनन्त ब्रह्माण्डोंके नाथ हैं, अतः क्षुद्र अहंकारी जीवसे याचना करनेमें आपका अपमान है। (ख) आप मेरे नाथ हैं, मैं सेवक होकर आपकी इच्छाके विरुद्ध कोई काम कर नहीं सकता, नहीं तो इसे क्षणभरमें सुखा देता; तथापि आपका अपमान मुझसे सहा नहीं जाता, इसीसे कहता हूँ।

प० प० प्र०—२ *'दैव कर कवन भरोसा।'*········' इति। [श्रीलक्ष्मणजी माताका संदेश सुन चुके हैं *'निमिष निमिष करुनानिधि जाहिं कलप सम बीति'*, *'अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना'* भी सुना है। इससे उन्हें क्षण-क्षणका विलम्ब भी असह्य हो रहा है, इसीसे वे ऐसा कह रहे हैं।] कथनका भाव यह है कि पुरुषार्थसे सहज और शीघ्र साध्य होनेवाला कार्य दैवपर छोड़कर स्वस्थ बैठकर काल व्यतीत करना वीरोंके लिये अनुचित है।

* ब्र० चं०—'नाथ·········' स्वागता, शेष (१) से (६) तक पायकुलक।

टिप्पणी—१ (क) *'नाथ दैव कर·······'* इति। दैवका भरोसा श्रीरामजीके मनमें भाता है, इसीसे लक्ष्मणजी प्रार्थना करके कहते हैं और विभीषणजीका जो सम्मत है कि समुद्रसे विनय करें इसका साफ-साफ खण्डन करते हैं कि उससे विनय न कीजिये किंतु उसपर रोष कीजिये और सोख लीजिये। (ख) यहाँ मन, वचन और कर्म तीनों कहे—वीर पुरुषार्थ करते हैं—*'सोखिअ सिंधु करिअ मन रोसा'* यह वीरोंका कर्म है। *'कादर मन कहुँ एक अधारा'*—यह मन है। *'दैव दैव पुकारा'* वचन है। तात्पर्य कि वीर कर्म करते हैं, पुरुषार्थहीन मनमें दैवका भरोसा करते हैं और आलसी दैव दैव चिल्लाया करते हैं। दैवका आधार लेनेवाले कायर और आलसी होते हैं और आप तो वीर-शिरोमणि हैं, आपको वीरोंका कर्तव्य करना चाहिये। समुद्र सोखना पुरुषार्थ है।

नोट—१ भाव यह है कि जो पौरुषहीन हैं, कायर हैं, वे ही भाग्यपर भरोसा करते हैं। जो वीर हैं जिनके पराक्रमकी लोकमें प्रसिद्धि है, वे भाग्यका अनुसरण नहीं करते। जो पुरुषार्थसे भाग्यको दबा सकते हैं उन्हें भाग्यके कारण अपनी असफलतापर पश्चात्ताप करनेका अवसर नहीं मिलता। यथा—'**विक्लवो वीर्यहीनो यः स दैवमनुवर्तते। वीराः सम्भावितात्मानो न दैवं पर्युपासते॥ दैवं पुरुषकारेण यः समर्थः प्रबाधितुम्। न दैवेन विपन्नार्थः पुरुषः सोऽवसीदति॥**' (वाल्मी० २। २३। १६-१७) यह श्रीलक्ष्मणजीने श्रीरामजीसे अयोध्याकाण्डमें कहा है।)

वाल्मी० युद्धकाण्डमें तो श्रीलक्ष्मणजीने कहा है कि विभीषणजीका परामर्श हम लोगोंको भला क्यों अप्रीतिकर होगा। मानसमें अयोध्याकाण्डमें तो वे चुप हैं पर इस स्थानपर उन्होंने दैव-पुरुषार्थवाद छेड़ा है जो *'ऐसइ करब धरहु मन धीरा'* से तुरत शान्त हो जाता है।

अ० रा० में विभीषणजीसे सागर तरणोपाय पूछना इत्यादि प्रसङ्ग ही नहीं है। इन चौपाइयोंकी जोड़के श्लोक ये हैं—'**आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः। नास्त्युद्यमसमो बन्धुः कुर्वाणो नावसीदति॥ उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीर्दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति। दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः॥**' (नीतिशतक-राजर्षि भर्तृहरि तथा '**उद्यमेन विना राजन् न सिद्ध्यन्ति मनोरथाः। कातरा इति जल्पन्ति यद्भाव्यं तद्भविष्यति॥**' अर्थात् उद्यमके बिना मनोरथ सिद्ध नहीं होता, कायर लोग कहा करते हैं कि जो होना है वही होगा। (पंचरात्र)

मा० त० सु०—*'कवन भरोसा'* का भाव कि दैव तो प्रत्यक्ष है नहीं, अतः उसका भरोसा करना व्यर्थ है। *'करिअ मन रोसा'* का भाव कि सरलताको त्यागिये।

वीरकवि—लक्ष्मणजीने पहले एक विशेष बात कही, फिर साधारण बातसे उसका समर्थन करना कि यह कादरोंके मनका सहारा है इत्यादि 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार है।

टिप्पणी—२ *'सुनत बिहँसि बोले।'* लक्ष्मणजीने *'राम बचन सुनि अति दुख पावा'* उनको विभीषणकी राय अच्छी न लगी। उन्होंने दैवका भरोसा न करना चाहा और न समुद्रको कुछ माना वरन् वे पुरुषार्थ करनेको तैयार हुए—इस साहसपर श्रीरामजीने हँसकर धीरज दिया कि जो तुम कहते हो वही करेंगे, इसीसे 'रघुवीर' पद दिया।

श्रीलमगोड़ाजी—*'बिहँसि'* में हास्यकला बड़ी सुन्दर बन पड़ी है। इसमें कितनी उदारता, सौहार्द है पर साथ ही कैसी गुप्त चुटकी भी है कि भैया! बड़ी जल्दी करते हो। *'अनुजहिं'* शब्द ही बता रहा है कि उन्हें लषनलालके अनुगामी होनेपर भरोसा है और *'समुझाई'* शब्दसे साफ पता चलता है कि उन्होंने छोटे भाईका अनादर नहीं किया किंतु समझा-बुझाकर ठीक कर लिया।

प० प० प्र०—*'बिहँसि'* इति। (क) श्रीलक्ष्मणजीकी अलौकिक प्रीति देखकर हँसे। यथा—*'मन बिहँसे रघुबंसमनि प्रीति अलौकिक जानि।'* (२। १००) पुनः (ख) रावणके गुप्तचर वानररूपसे आये हुए हैं जो अभी पहचाने नहीं गये हैं। अतः बिहँसकर उनका कपट खोलनेके लिये मायाको प्रेरणा दी। वा, (ग) बिहँसकर सागरकी मतिको मोहित किया। कारण कि *'राम तें अधिक रामकर दासा।'* इस सिद्धान्तको श्रीहनुमान्जीके विषयमें चरितार्थ करना है। *'सुनि प्रभु बचन मोह मति करषी।'* (२। १०१। ५) भी देखिये।

मानसमें श्रीरामजीका १९ बार 'हँसना', १७ बार 'मुसुकाना' और २० बार 'बिहँसना' लिखा है। प्रत्येक स्थानमें ऐसी ही कुछ लीला है। यह अभ्यासका एक स्वतन्त्र विषय है।

नं० प०—*'रघुबीरा'* शब्द देकर सूचित किया कि समुद्रको अपनी वीरता दिखायेंगे, उससे वीरता करनी पड़ेगी। सिन्धु समीप जानेमें 'रघुराई' अर्थात् राजा कहा, क्योंकि नीतिको बरत रहे हैं, नीतिका पालन करना है।

नोट—२ *'रघुबीर'* का भाव कि मैं भी पुरुषार्थको ही मुख्य मानता हूँ। जो तुम कहते हो वही करूँगा, मैंने तुम्हारा ही सिद्धान्त दृढ़ कर रखा है; पर ये अभी आये हैं, इनका जी प्रथम ही तोड़ देना ठीक नहीं। 'प्रभु' 'रघुराई' का भाव कि सर्वसामर्थ्ययुक्त होते हुए भी राजा हैं, अतः नीति आपको अवश्य पालनीय है। (मा० त० सु०)

नोट—३ दोनों भक्त हैं इससे दोनोंका पक्ष क्रमसे रखेंगे—(वंदनपाठक)।

टिप्पणी—३ *'अनुजहि समझाई'* इति। समझाया कि विभीषणने राय अच्छी दी है, समुद्र कुलगुरु है। उसका मान रखना चाहिये। इससे समुद्रका मान रहेगा और विभीषण संत हैं, इनका भी मान रहेगा। समुद्र न मानेगा तब उसको दण्ड देना अनुचित न होगा, अभी दण्ड देना अनुचित है। नीतिमें लिखा है कि जो काम करे वह अपने इष्ट-मित्र प्रियके मनसे करे, उनको अप्रसन्न करके न करे। जब लक्ष्मणजी भी प्रसन्न हो गये तब सिन्धुतटपर गये।

टिप्पणी—४ *'सिन्धु समीप गए'*, क्योंकि-(क) विभीषणजीने यही कहा है—*'बिनय करिअ सागर सन जाई।'* अथवा, (ख) जलसे प्रार्थना करना है इससे जलके पास गये। इससे यह पाया जाता है कि सेना समुद्रतटसे कुछ दूरपर है। कारण कि समुद्रका जल न स्नानके कामका है न पीनेके कामका। पहले तीर (अर्थात् निकट) उतरना कहा—*'एहि बिधि जाइ कृपानिधि उतरे सागर तीरा'*, अब तटपर जाना कहते हैं। तीर और तट (समीप) में यही भेद है, यथा—*'ठाढ़े सकल सिंधुके तीरा'* फिर वहाँसे सबका तटपर जाना कहा—*'अस कहि लवनसिंधु तट जाई।'*

प्रथम प्रनामु कीन्ह सिरु नाई। बैठे पुनि तट दर्भ डसाई*॥७॥

अर्थ—श्रीरामजीने पहले तो माथा नवाकर प्रणाम किया, फिर कुशासन बिछाकर बैठ गये॥ ७॥

टिप्पणी—१ समुद्र कुलगुरु है, इसीसे प्रणाम किया। पहले प्रणाम करके तब विनय करना यह विनयकी रीति है, यथा—*'सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी। प्रीति सहित करि बिनय बिसेखी॥'* (२। १२९। ३)

टिप्पणी—२ *'बैठे तट दर्भ डसाई।'* इससे निरायुध, मौनव्रत धारण किये हुए और अनशन सूचित किया। तीन दिन इस प्रकार बैठे रहे—लक्ष्मणजीसे बाण-शरासन माँगा, इससे जाना गया कि निरायुध बैठे, यथा—*'लछिमन बान सरासन आनू।'* शुक अपना मुनितन पाकर श्रीरामजीके पास गया बार-बार प्रणाम किया पर वे कुछ न बोले; इससे जाना गया कि वे मौन भी थे, यथा—*'बंदि रामपद बारहिं बारा। मुनि निज आश्रम कहुँ पगु धारा॥'* (५७। १२) अनशन व्रत कवित्तरामायणसे जाना गया, यथा—*'तीसरें उपास बनवास सिंधु पास सो, समाजु महाराजजू को एक दिन दान भो॥'* (क० ५। ३२)

नोट—१ *'दर्भ डसाई'* इति। कुलगुरु है, अतः उसके सामने अभिमानरहित आचरण दिखाया कि अपने ही हाथसे आसन बिछाया। यथा—*'निज कर डासि नागरिपु छाला।'* (१। १०६। ५) देखिये। अनुष्ठान-पूजा-पाठ आदि बिना आसनके व्यर्थ हो जाते हैं। आसन बिछाना शास्त्रविहित है। आसनोंके भेद, यथा—**'कृष्णाजिने धनं पुत्रा मोक्षः श्रीर्व्याघ्रचर्मणि। कुशासने ज्ञानवृद्धिः कम्बले चोत्तमा गतिः॥ काष्ठासने व्याधिभयं पाषाणे हानिरेव च। वस्त्रासने वृथा पूजा धरण्यां निर्धनो भवेत्॥'** (गुप्तसारसंग्रह)

श्रीलमगोड़ाजी—सत्याग्रहीके अनशनमें क्रोध नहीं होता (जैसे गांधीजीके व्रतोंमें); फिर भगवान् राम

---

* ब्र० चं०—प्रथम नयमालिनी, 'बैठे.........', (८) पायकुलक।

तो सत्यशीलाग्रही हैं केवल सत्याग्रही नहीं। पर अन्तर भी विचारियेगा कि जब वैसे काम नहीं चलता, तब *'भय बिनु होइ न प्रीति'* की बात भी भगवान्‌ने ही आगे कही है।

जबहिं बिभीषन प्रभु पहिं आए। पाछे रावन दूत पठाए*॥ ८॥

अर्थ—जिस समय विभीषणजी प्रभुके पास आये, उसी समय उनके पीछे रावणने दूत भेजे॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'पाछे रावन दूत पठाए'* इति। जब दूत चले तब उनका चलना न लिखा, यहाँ उनका समाचार लिखते हैं; कारण कि दूत जब चले तब छिपकर यहाँ आये, यहाँ आकर प्रकट हुए, इसीसे कविने प्रथम उनका चलना न खोला, अब प्रकट होनेपर लिखा।

नोट—१ *'पाछे रावन दूत पठाए'* इति। इस प्रसंगमें वाल्मी० और अ० रा० से मानस-कल्पकी कथामें अन्तर है। वाल्मी० में प्रथम शार्दूल राक्षसने रावणको सेनाके उतरनेका समाचार दिया है तब रावणने शुकको सुग्रीवजीको फोड़नेके लिये भेजा है। यह पक्षीरूपसे गया। पकड़ जानेपर इसके पंख उखाड़ डाले गये और नेत्र फोड़े जाने लगे। तब वह रोने लगा और श्रीरामजीकी दुहाई देने लगा—**'व्याचुक्रोश महात्मानं रामं दशरथात्मजम्। लुप्येते मे बलात्पक्षौ भिद्येते मे तथाक्षिणी॥'** (६। २०। ३२), तब श्रीरामजीने बचा दिया। पर समुद्रपार सेना पहुँच जानेके पश्चात् वह छोड़ा गया। अ० रा० में भी प्रायः ऐसा ही है। रावणको समाचार देनेपर वह बड़ा कुपित हुआ और इससे कहा कि अब मुँह न दिखाना।

तत्पश्चात् शुक-सारण दो मन्त्रियोंको सेनाका समाचार लेनेको भेजा। इन दोनोंने वानर-रूप धरकर सेना देखी।—**'हरिरूपधरौ वीरौ प्रविष्टौ वानरं बलम्।'** (वाल्मी० ६। २५। ९) विभीषणजी इन्हें पकड़वाकर श्रीरामजीके पास ले आये। भगवान् श्रीरामने कहा कि यद्यपि कपटरूपसे सेनामें प्रवेश करनेसे ये मारने योग्य हैं तथापि इन्हें छोड़ दो—**'प्रच्छन्नौ च विमुञ्चेमौ चारौ रात्रिंचरावुभौ। शत्रुपक्षस्य सततं विभीषण विकर्षिणौ॥'** (६। २५। २१) ये दोनों राघव धर्मवत्सलकी जय कहते हुए गये।—**'जयेति प्रतिनन्द्यैनं राघवं धर्मवत्सलम्॥'** (२५। २६) श्रीरामजीने इनके द्वारा रावणको संदेशा भी भेजा। इन्होंने जाकर नील, नल, अंगद, कुमुद, चण्ड आदि यूथपतियोंके नाम आदि बताये और अन्तमें कहा—**'अलं विरोधेन शमो विधीयतां प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली।'** (६। २५। ३३) आप उनसे सन्धि कर लें, सीताजीको दे दें। रावणने दोनोंको डाँटा-फटकारा और कहा कि रिपुका उत्कर्ष कहते हो, मार डालने योग्य हो, मन्त्री होने योग्य नहीं, तुम्हारे पूर्वकृत उपकारोंसे मैं तुमको छोड़ देता हूँ। हमारे सामनेसे दूर हो, अब सामने न आना।

तदुपरान्त रावणने शार्दूलके नेतृत्वमें अनेक दूतोंको भेजा। ये सब भी पकड़े, मारे और सेनामें घुमाये गये। श्रीरामजीसे पुकार करने और प्राणोंकी भिक्षा माँगनेपर छोड़ दिये गये। उनके द्वारा भी श्रीरामजीने रावणको संदेश भेजा था।

'दूत पठाए' कहनेसे तीनों बारके दूतोंका ग्रहण हो जाता है। मानसकल्पके अवतारमें एक ही बार दूत भेजे गये और वे भी सेतुबंधनके पूर्व। मानसमें दूत वानररूप धरकर आये। वाल्मी० रा० में शुक-सारण जो भेजे गये थे वे भी वानररूप धरकर आये थे। इससे यहाँ 'शुक-सारण' नामक दूतोंको ले सकते थे, क्योंकि दोके लिये भी *'पठाए'*का प्रयोग ही होता पर आगे *'बाँधि सकल'* से दोसे अधिकका ही बोध होता है। उसका पता लगाना है। इसलिये इन्हीं शुकसारणके साथ और दूतोंका भी आना मान लेनेसे *'दूत पठाये'* और *'सकल बाँधि'* आदि बहुवचनसूचक शब्दोंके प्रयोगका समाधान भी हो जाता है। शुकका नाम मानसकारने आगे खोला है—*'कह सुक नाथ सत्य सब बानी।'* (५७। ३) अ० रा० में अगस्त्यजीके शापकी कथा भी शुकके सम्बन्धमें दी हुई है। वाल्मी० में शापकी चर्चा नहीं है। इससे यह प्रसंग विशेषतः अ० रा० के अनुसार है।

दो०—सकल चरित तिन्ह देखे धरे कपट कपि देह।
प्रभु गुन हृदय सराहहिं सरनागत पर नेह॥ ५१॥

* ब्र० चं०—दोहरा।

अर्थ—राक्षसी मायासे नकली वानरका शरीर धारण किये हुए उन्होंने सब चरित देखे। वे शरणागतपर प्रेम (मुख्य) यह एवं और भी प्रभुका गुण हृदयमें सराह रहे हैं॥ ५१॥

टिप्पणी—१ (क) *'सब चरित'* अर्थात् जबसे विभीषणजी यहाँ आये तबसे अबतक सब चरित। आदरसे बुलाना, हृदय लगाना, भाईसहित मिलकर पास बिठाना, कुशलप्रश्न करके बड़ाई करना, अपना स्वभाव कहकर भक्ति प्रदान करना, तिलक करना और सखा बनाना तथा मन्त्र पूछकर सागरसे विनय करना, इत्यादि सब चरित हैं जो देखे। (ख) *'प्रभु गुन हृदय सराहहिं'* क्योंकि छिपकर आये हैं, स्पष्ट सराहते तो कपट खुल जाता। (ग) शरणागतपर स्नेह है, यथा—*'मम पन सरनागत भय हारी'*—(१), *'कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आए सरन तजौं नहिं ताहू॥'*—(२), *'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥*—(३), *'जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहौं ताहि प्रानकी नाई॥'*—(४)। यह श्रीरामजीके मुखारविन्दसे सुना। और शरणपर प्रेम आँखों देखा भी, यथा—*'अब कहि करत दंडवत देखा'* से *'बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग……'* तक सब चरित देखकर शरणागतपर प्रभुके स्नेहकी प्रशंसा करते हैं। (घ) 'शरणागतपर नेह'—इस कथनसे पाया गया कि सम्पूर्ण चरितमें शरणागतपर नेह अधिक या प्रधान है। और भी गुणोंकी सराहना करते हैं पर उनको यहाँ स्पष्ट नहीं किया। आगे जब दूत रावणसे कहेंगे तब और गुणोंको खोलेंगे। यथा—*'राम तेज बल बुधि बिपुलाई', 'माँगत पंथ कृपा मन माहीं'* और *'मिला जाइ जब अनुज तुम्हारा……'* इत्यादि।

प्रगट बखानहिं राम सुभाऊ। अति सप्रेम गा बिसरि दुराऊ॥ १॥
रिपुके दूत कपिन्ह तब जाने। सकल बाँधि कपीस पहिं आने॥ २॥
कह सुग्रीवँ सुनहु सब बानर। अंग भंग करि पठवहु निसिचर*॥ ३॥

अर्थ—पुनः वे श्रीरामजीका स्वभाव प्रकटरूपमें अत्यन्त प्रेमसे बखान करते हैं, अतः उन्हें कपट भूल गया॥ १॥ तब वानरोंने जाना कि ये शत्रुके दूत हैं। सबको बाँधकर सुग्रीवके पास लाये॥ २॥ सुग्रीवजीने कहा—सब वानरो! सुनो। निशाचरोंका अंग-भंग करके भेजो॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) अत्यन्त प्रेममें कपट नहीं रह जाता, यथा—*'अस कहि परेउ चरन अकुलाई। निज तन प्रगटि प्रीति उर छाई॥'* (४। ३। ५) (ख)—*'प्रगट बखानहिं।'* प्रभुके गुण हृदयमें सराहते थे, और अब स्वभाव सुनकर अधिक प्रेममें मग्न हो गये, इससे स्वभावका प्रकट बखान करने लगे। गुण सराहनेमें 'प्रेम' था इसीसे तबतक सँभाल रहा। स्वभाव सुनकर 'अति प्रेम' हुआ, प्रेमकी मात्रा बहुत बढ़ गयी; इसीसे न रहा गया, प्रकट सराहने लगे। (ग) स्वभावका लक्ष्य—*'सुनहु सखा निज कहौं सुभाऊ।'* (४८। १) से *'प्रभु सुभाव कपिकुल मन भावा।'* (५०। २) तक। (घ) यहाँ दिखाया कि भगवद्गुण बखान करनेसे कपट नहीं रह जाता; राक्षस महाकपटी होते हैं सो उनका भी कपट छूट गया, यह श्रीराम-गुण-स्वभावका प्रभाव है। [(ङ) *'गा बिसरि दुराऊ।……बाँधि।'* इति। प्रेमकी मात्रा अत्यन्त बढ़ जानेपर जब वे प्रकट बखान करने लगे तब बन्दरोंने देखा कि यह कौन बोली बोल रहा है। यह बोली तो बन्दरोंकी नहीं है, यह भाषा तो राक्षसोंकी-सी है। अतः ये निश्चय ही शत्रुके दूत हैं। इसीसे उनको तुरत बाँध लिया; क्योंकि तनिक-सी असावधानी होनेसे ये कूदकर वानरोंमें जा मिलेंगे। फिर ये पहिचाने न जा सकेंगे। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—२ (क) *'सकल बाँधि'* से जनाया कि कई दूत थे। आगे स्पष्ट किया है, यथा—*'सुनि लछिमन सब निकट बोलाए।'* (नोट—*'पाछे रावन दूत पठाये', 'सकल चरित तिन्ह देखे', 'प्रभुगुन हृदय सराहहिं', 'प्रगट बखानहिं, 'रिपुके दूत,* और *'जो हमार हर नासा काना'* ये सब बहुवचन पद देकर कईका होना स्पष्ट कर दिया है)। (ख) *'तब जाने'* अर्थात् जब राक्षसरूप प्रकट हो गया, कपटवेश जाता रहा, तब (अथवा, वानररूप बना रहा, बोलीसे पहचाना)। *'कपीस पहिं आने'* कि जो आज्ञा

* ब्र० चं०—(१) (२) तामरस, १२०९ वाँ, १५९१ वाँ भेद।

हो सो करें, राजाज्ञासे दण्ड होता है और सुग्रीव वानरोंके राजा हैं, इससे उनके पास वानर ले गये। (घ) वाल्मीकिजीने शुकका दो बार बाँधा जाना लिखा है, इसीसे गोस्वामीजी भी दो बार लिखते हैं—एक तो यहाँ *'सकल बाँधि·······'* दूसरे *'बाँधि कटक चहुँ पास फिराए।'* [(ङ) आज भी यह नियम चला आता है कि हाकिमके सामने अपराधीका बन्धन पूछ-ताछके समय खोल दिया जाता है। अतः सुग्रीवजीके सामने एकबार उनका बन्धन खोल दिया गया था, इसीसे ग्रन्थकार पुनः बाँधना लिखते हैं। (वि० त्रि०) वाल्मीकीयमें जो शुक प्रथम भेजा गया था वह मन्त्री नहीं था। दूसरी बार जो भेजा गया वह मन्त्री था। इससे पं० रामकुमारजीका यह भाव शिथिल जान पड़ता है।]

टिप्पणी—(क) ३ सुग्रीवने मारनेका हुक्म नहीं दिया, वरन् अंग-भंग करनेका दिया; क्योंकि सुग्रीव नीति जानते हैं कि *'नीति बिरोध न मारिय दूता।'* (ख) सबको हुक्म दिया कि अंग-भंग करो, जैसे रावणने हनुमान्‌जीके लिये हुक्म दिया था। रावणने अंगका नाम बतलाया था कि पूँछ जलाओ, पर सुग्रीवने कोई नाम न लिया; कारण कि सब जानते हैं कि कौन अंग-भंग करने चाहिये—जो अंग लक्ष्मणजीने निशिचरी शूर्पणखाके काटे थे अर्थात् नाक और कान। वानर राक्षसोंको वही दण्ड देते हैं जहाँ वे मिलते हैं, यथा—*'जहँ कहुँ फिरत निसाचर पावहिं। घेरि सकल बहु नाच नचावहिं॥ दसनन्हि काटि नासिका काना। कहि प्रभु सुजस देहिं तब जाना॥'* (६। ५। ७-८), *'काटेसि दसन नासिका काना। गरजि अकास चलेउ तेहिं जाना॥'* (६। ६५। ६) तथा यहाँ नाक-कान काटेंगे, यथा—*'जो हमार हर नासा काना।'* (ग)—*'पठवहु'* जिसमें रावण जान ले कि जैसा हमने उनके दूतके साथ किया वैसा ही उन्होंने किया।

सुनि सुग्रीव बचन कपि धाए। बाँधि कटक चहुँ पास फिराए॥ ४॥
बहु प्रकार मारन कपि लागे। दीन पुकारत तदपि न त्यागे॥ ५॥
जो हमार हर नासा काना। तेहि कोसलाधीस कै आना*॥ ६॥

अर्थ—सुग्रीवके वचन सुनकर वानर दौड़े, और निशाचरोंको बाँधकर सेनाके चारों ओर फिराया॥ ४॥ वानर उन्हें बहुत तरहसे मारने लगे। वे दीन होकर पुकार रहे हैं तो भी नहीं छोड़ते॥ ५॥ (तब वे इस प्रकार पुकार करने लगे) जो हमारे नाक-कान काटे उसे कोशलाधीशकी शपथ है॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'धाए'* अर्थात् जो दूर थे वे कौतुक देखने एवं कपीशकी आज्ञा तुरत सिद्ध करनेके लिये दौड़ आये, यथा—**'सुग्रीव उग्रशासनः'** इति वाल्मीकीये। आगे कौतुक करना लिखते हैं। (ख) *'बाँधि'* यहाँ पुनः लिखकर जनाया कि प्रथम साधारण बाँधा था अब विशेष बाँधा। दो बार बाँधा क्योंकि हनुमान्‌जीको भी राक्षसोंने दो बार बाँधा था—एक बार नागपाशसे बाँधा, दूसरी बार पूँछ बाँधी। [जब सुग्रीवके पास ले गये तब बन्धन खोल दिये, अतः फिर बाँधा। वा, पहले हाथ ही बाँधे थे अब कमर भी बाँधी। वा, अब अंग-भंग करना है, अतः अब फिरसे दृढ़ करके बाँधा।] (ग) *'बहु प्रकार'।* राक्षसोंने हनुमान्‌जीकी पूँछ बहुत प्रकारसे जलाई, अतएव कपि इनको बहुत प्रकारसे मारने लगे। (वाल्मीकीयमें शार्दूलने रावणसे कहा है कि वानरोंने हम लोगोंको घुटनों, दाँतों, पैरों (लातों) तथा हाथोंसे मारा-काटा है यथा—**'जानुभिर्मुष्टिभिर्दन्तैस्तलैश्चाभिहता भृशम्। परिणीतोऽस्मि हरिभिर्बलवद्भिरमर्षणैः॥'** (६। ३०। ८) यही बहु प्रकार हैं।)

टिप्पणी—२ *'दीन पुकारत तदपि न त्यागे'* इति। (क) भाव कि दीनको न मारना चाहिये वरन् छोड़ देना चाहिये पर वे उनको शत्रुके दूत होनेके कारण नहीं छोड़ते। (ख)—यहाँ रिपुदूत जानकर बाँधा और मारा पर विभीषणजी आये तब भी तो *'जाना कोउ रिपुदूत बिसेषा',* उनको क्यों न बाँधा-मारा? कारण कि वे निजरूपसे आये, बिना आज्ञाके श्रीरामजीके दलमें उन्होंने प्रवेश न किया वरन् कह सुनाया कि हम श्रीरामजीसे मिलने आये हैं। और दूत कपट-वानरवेषसे छिपकर दलमें आये; इस अपराधके कारण इनको दण्ड मिला और उनको कुछ न हुआ।

* ब्र० चं०—(४—८) पायकुलक।

टिप्पणी—३ (क) *'जो हमार हर नासा काना·······'* इति। भाव कि जब वे दीन होकर पुकारने लगे तब मारना छोड़कर नाक-कान काटने लगे। अङ्ग-भङ्गकी जो आज्ञा मिली थी, अब वही करने लगे। अङ्ग-भङ्ग करके छोड़ेंगे। (ख) श्रीरामजीकी शपथ सुग्रीवके हुक्मसे गुरुतर है, इसीसे सुग्रीवके हुक्मको नाजायज किया और रामशपथको सिद्ध रखा। भाव कि सुग्रीवने श्रीरामजीके प्रेमी, श्रीरामजीके गुण, स्वभाव वर्णन करनेवालेके अङ्ग-भङ्ग करनेका हुक्म दिया। इसीसे उनका हुक्म भङ्ग हुआ, किन्तु उनके अङ्ग-भङ्ग न हुए। दूतोंने रामप्रेममें मग्न होकर गुणस्वभाव बखान किये ऐसोंको वानरोंने बाँधा और राम दोहाई होनेपर भी न छोड़ा क्योंकि ये रिपुके दूत हैं, पहचान लिये गये हैं—यह काम वानर नीतिके अनुसार कर रहे हैं। श्रीलक्ष्मणजी भावुक हैं, अतएव कोशलाधीशकी दुहाई देते सुन उन्होंने उनको छुड़ा दिया। दूतोंके विषयमें विभीषणजी कुछ न बोले, यह समझकर कि छुड़ावें तो सब कहेंगे कि राक्षसोंका पक्ष लेते हैं और मारनेको तो किसीको कहते नहीं; दूत तो भक्त हैं, इन्हें मारनेको कैसे कहें, इसीसे चुप रहे। राजाकी दोहाई देते हैं, इसीसे *'कोसलाधीस'* कहा। 'कोसलाधीश' की दोहाईका भाव कि जो इनकी शपथ न मानेगा उसका कुशल नहीं। वा, कोसल धर्मकी पुरी है जो वहाँके राजाकी शपथ न मानेगा उसके धर्मकी हानि होगी। वा, हम कोशलाधीशकी शपथ देते हैं, जैसे वे कोशलपुरीकी रक्षा करते हैं वैसे ही हमारी रक्षा करें। वा, लंकेशकी शरण छोड़कर कोशलाधीशकी शपथ देते हैं कि हमारी कुशल हो; नाक-कान न काटें। वानर यहाँ हनुमान्‌जीका बदला ले रहे हैं। दोनों प्रसंगोंका मिलान—

नाग पास बाँधेसि लै गएऊ	१	*सकल बाँधि कपीस पहिं आने*
सुनत बिहँसि बोला दसकंधर।	२	*'कह सुग्रीव सुनहु सब बानर।'*
अंग भंग करि पठइय बंदर॥		*अंग भंग करि पठवहु निसिचर॥'*
सुनत निसाचर मारन धाये	३	*सुनि सुग्रीव बचन कपि धाये*
मारहिं चरन करहिं बहु हाँसी	४	*बहु प्रकार मारन कपि लागे*
नगर फेरि पुनि पूँछ प्रजारी	५	*बाँधि कटक चहुँ पास फिराये*
कपि कै ममता पूँछि पर सबहि कहा	६	*श्रवन नासिका काटन लागे*
× ×	७	*'दीन पुकारत तदपि न त्यागे'* यह अधिक है।

श्रीलमगोड़ाजी—अंग-भंगकी बात तो तुर्की-बतुर्की जवाब थी ही पर फौजी निर्दयताने *'बहु प्रकार.........दीन पुकारत तदपि न त्यागे'* और जोड़ दिया। पर रामराज्यकी नीतिपर विश्वास तो देखिये कि रावणके दूत भी श्रीरामजीकी दुहाई देते हैं। देखिये महात्मा गांधीजीने दिल्लीके भाषणमें (जो २१-९-४७ के सप्ताहमें छपा था)। हिन्दुओंसे कहा है कि दो गलतियाँ मिलकर एक सही नहीं होती। दाँतके बदले दाँत और आँखके बदले 'आँख' वाली नीति हर जगह लागू नहीं होती; यह ठीक है, आगे श्रीलक्ष्मणजी जैसे वीरकी दया भी सराहनीय है।

वीरकवि—शत्रु होनेसे शत्रुका व्यवहार करना शत्रुपक्षीय 'प्रव्यनीक' अलंकार है। पुकार मचानेसे प्रश्नकी कल्पना होती है। कोशलाधीशकी सौगंध देनेमें अभिप्राय यह है कि नाक-कान कटनेसे बच जायँगे। यह कल्पित प्रश्नका 'गूढ़ोत्तर' अलंकार है।

सुनि लछिमन सब निकट बोलाए। दया लागि हँसि तुरत छोड़ाए॥ ७॥
रावन कर दीजहु* यह पाती। लछिमन बचन बाँचु कुलघाती॥ ८॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजीने सुनकर सबको निकट बुलाया, उन्हें दया लगी, इससे हँसकर तुरंत ही छुड़ा दिया॥ ७॥ (और उनसे कहा) रावणके हाथमें यह पत्रिका देना और कहना-'हे कुलके नाश करनेवाले! श्रीलक्ष्मणजीके वचनोंको पढ़' (यह पत्रिका उन्होंने ही दी है)॥ ८॥

* 'दीजेहु'—(ना० प्र०)।

टिप्पणी—१ *'सब निकट बोलाए........'* इति। (क) तात्पर्य कि जब आर्तवचन सुने तब बुलाया, और कोशलाधीशकी दुहाई सुनी तब निकट बुलाया। पुनः संदेसा भेजना है, पत्रिका देना है, अतः निकट बुलाया। (ख) *'दया लागि'* श्रीरामजीके नाते चाहे कोई भी हो सबपर दया करते हैं, इसीसे दया लगी। हँसकर अर्थात् कृपा करके छुड़ा दिया; ये सब बातें कृपासूचक हैं, यथा—*'हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥'* (१। १९८। ७) पुनः, हँसे कि राक्षस जो नर-वानरको अपना आहार समझते हैं, आज रामकृपासे उन्हीं वानरोंसे ये त्राहि-त्राहि कर रहे हैं। (मा० त० सु०)। ['हँसि' शब्द यहाँ ऐसा सुन्दर बन पड़ा है कि कहते नहीं बन पड़ता। दो भाव तो ऊपर आ ही गये, और भी भाव ये हैं—(३) कलई खुल गयी। (४) कैसा सुन्दर अवसर पत्र भेजनेका मिल गया, घर बैठे-बिठाये। (५) कौतुकी बाँके लखनलालको न तो अपने पक्षकी सेनापर क्रोध है, और न शत्रुके दूतोंका भय। वे हँस ही रहे हैं। इत्यादि। ☞ सचमुच श्रीतुलसीदासजी (जी० पी० श्रीवास्तवके शब्दोंमें) हास्यरसमें भी कील-काँटेसे दुरुस्त रहते हैं। (श्रीलमगोड़ाजी)] (ग) *'तुरत छोड़ाये'*—श्रीरामजीको दुःखमें पुकारते ही दुःख दूर होता है, तुरत न छुड़ाते तो रामशपथका महत्त्व घट जाता; इसीसे तुरत छुड़ाया और लक्ष्मणजीकी दयासे जीव जल्द बन्धनसे छूटता है। (घ) इस समय श्रीरामजी समुद्रतटपर हैं, लक्ष्मणजी यहीं हैं, अतः श्रीरामजीकी जगह इन्होंने उनको छुड़ाया।

टिप्पणी—२ (क) रावणके हाथमें देनेको कहा। तात्पर्य कि मन्त्री, सेवक आदि दूसरे किसीके हाथ न भेजना स्वयं जाकर देना, नहीं तो वह, शत्रुकी चिट्ठी समझकर रावणको, उसके डरके मारे न देगा। (ख) *'लछिमन बचन बाचु'* अर्थात् उससे कहना कि स्वयं पढ़े जिसमें चिट्ठीको वह अच्छी तरह समझ जाय। [*'लछिमन बचन'* कहनेका भाव कि प्रभुका छोटा भाई हूँ, यह मेरी ओरसे चेतावनी है। श्रीरामजी *'कुलघाती' 'मूढ़'* आदि कठोर शब्द नहीं कहते। अपनी तरफसे कहनेसे श्रीरामजीका उत्कर्ष होगा, अतः *'लछिमन बचन'* कहा। ये तो प्रभुकी कीर्तिपताकाके फहरानेवाले हैं, अतः अपनी तरफके सन्देश भेज रहे हैं, इस समय श्रीरामजी यहाँ हैं भी नहीं, समुद्रतटपर हैं। अतः इन्होंने सन्देश भेजा।] (ग) *'कुलघाती'* विशेषणसे जनाया कि तू अपने कुलका नाशक है, ऐसा न कर। यह चिट्ठीमें लिखा है? आगे इसे स्पष्ट करेंगे, यथा—*'बातन्ह मनहि रिझाइ सठ जनि घालसि कुल खीस॥'* (५६) (घ) पत्रिका देनेमें भाव यह है कि सब महात्माओंने रावणको मृत्युसे बचानेके लिये उपदेश दिया, इसीसे श्रीलक्ष्मणजी भी उपदेश देकर दोषसे बाहर हुए। श्रीहनुमान्‌जी, विभीषणजी और पुलस्त्यजीने भी यही उपदेश दिया था। और आगे जाम्बवान्‌ने *'बतकही'* करनेका मन्त्र दिया था (अर्थात् श्रीरामजीको राय दी कि अंगदको दूत बनाकर भेजिये कि उसे समझावें)। और उसके बचानेके लिये श्रीरामचन्द्रजीने अंगदसे यही कहा था कि *'काज हमार तासु हित होई। रिपु सन करहु बतकही सोई॥'*

नोट—रणबहादुरसिंहजीकी टीकामें बालरामायणमें पत्रिका बतायी जाती है। यथा—'**भो लंकेश्वर दीयतां जनकजा रामः स्वयं याचते कोऽयं ते मतिविभ्रमः स्मर नयं नाद्यापि किञ्चिद्गतम्। नैवं चेत्खरदूषणत्रिशिरसां कण्ठासृजा पङ्किलः पत्री नैव सहिष्यते मम धनुर्ज्याबन्धबन्धूकृतः॥**' (१) अर्थात् हे रावण! तू शीघ्र जानकीको दे दे। श्रीरामचन्द्रजी स्वयं याचना करते हैं। यह कैसी तेरी बुद्धि भ्रान्त हो रही है? नीतिशास्त्रका स्मरण कर। आज भी तेरा राज्य, पुत्र, कलत्रादि कुछ नष्ट नहीं हुए हैं। इतना समझानेपर भी यदि तू न मानेगा, तो खरदूषण, त्रिशिरा आदिके कण्ठ रुधिरसे लिप्त और धनुषकी डोरीपर चढ़ाया हुआ यह मेरा बाण तेरे जीवनके अस्तित्व या तेरी अनीतिको नहीं सहेगा।-(र० ब०)

दो०—कहेहु मुखागर मूढ़ सन मम संदेसु उदार।
सीतौ देइ मिलहु न त आवा कालु तुम्हार॥५२॥

तुरत नाइ लछिमन पद माथा। चले दूत बरनत गुन गाथा*॥१॥

---

* ब्र० चं०—दोहा दोहरामिश्रित। (१—३) पायकुलक।

अर्थ—जबानी अपने मुखसे उस मूर्खसे मेरा उदार (श्रेष्ठ) सन्देश कहना कि श्रीसीताजीको देकर श्रीरामजीसे मिलो नहीं तो तुम्हारा काल (मृत्यु) आ गया॥ ५२॥ श्रीलक्ष्मणजीके चरणोंमें माथा नवाकर श्रीराम-गुणगाथा (गुणसमूह) वर्णन करते हुए दूत तुरंत चल दिये॥ १॥

टिप्पणी—१ (क) कुलका नाश चिट्ठीमें लिखा और रावणकी मृत्यु मुखाग्र कहलायी; क्योंकि कुलकी मृत्यु तो और भी पढ़कर सुना देंगे पर रावणकी मृत्युकी बात कोई भी पढ़कर न सुनावेगा। इसीसे कहा कि तुम यह बात जबानी कहना। (ख) *'मूढ़'* कहा, क्योंकि उसे अपनी हानि-लाभ, अपनी मृत्यु नहीं सूझ पड़ती। (ग) संदेशको उदार कहा, क्योंकि इसीसे सबके प्राण बचेंगे। (घ)—पूर्व कहा कि *'लछिमन बचन बाँचु कुलघाती'* और अब कहते हैं कि 'सीता देकर मिलो नहीं तो तुम्हारा काल आ गया।' पहलेसे जनाया कि मैं मेघनादको मारकर तेरे वंशका नाश कर दूँगा और श्रीरामचन्द्रजी तुझे मारेंगे। आगे इसको स्पष्ट किया है—*'रामबिरोध न उबरसि सरन बिष्नु अज ईस।'* (५८)

श्रीलमगोड़ाजी—धन्य हैं भावमर्मज्ञ कवि जिन्होंने जोशीले (लछिमन) का इतना ठीक चित्रण किया है। वे केवल पत्रिका देकर चुप न रह सके। कारण कि पत्रिका राजनीतिसम्बन्धी शिष्टाचारपूर्ण रही होगी जिसमें एक सेनानायक या राज्यकर्मचारीकी हैसियतसे 'लक्ष्मणजी' का उपदेश इत्यादि रहा होगा; पर बाँके लखन कुछ अधिक तो जबानी कहना ही चाहें! *'कुलघाती'* और *'मूढ़'* की गुञ्जाइश इस पत्रिकामें कैसे होती?

उस पत्रिकामें क्या था, यह हम संकेतद्वारा भले ही मान लें, पर उसके विषयको संकुचित न करना ही उचित है। कारण कि आगे रावणने उसे 'बाग बिलास' से भरी ही कहा है—*'लघु तापस कर बाग बिलासा'* और घृणाकी हँसीके साथ सही, पर उसकी उड़ानको आकाश ग्रहण करना बताया है। संकेत-कला निछावर है!

नोट—१ *'चले दूत बरनत गुनगाथा'* इति।—तुरत जानेका भाव कि—सन्देश जल्द कहना चाहिये, यथा—*'तुरत सो मैं तुम्ह सन कही पाइ सुअवसरु तात'* दोहा ३९ देखिये। लोकमें भी प्रसिद्ध है कि चिट्ठी लेकर लोग शीघ्र चलते हैं। अथवा, लक्ष्मणजी कहते हैं कि *'आवा काल तुम्हार';* अतः उसकी निवृत्तिके लिये शीघ्र चले। तुरतका सम्बन्ध 'चले' के साथ है।

टिप्पणी—२ किसके गुणगाथ? श्रीरामजीके, यथा—*'कहत रामजस लंका आए।'* तात्पर्य कि पूर्व गुणोंको हृदयमें सराहते थे और स्वभाव प्रकट बखान करते थे, अब गुणोंको भी प्रकट बखान करने लगे, क्योंकि अब निडर हो गये हैं। सुग्रीवको प्रणाम न किया, क्योंकि उन्होंने अङ्ग-भङ्ग करनेका हुक्म दिया था जिसपर वानरोंने इन्हें मारा था और लक्ष्मणजीने कृपा करके छुड़ाया इससे इनको प्रणाम किया। [वाल्मी० में *'जयेति प्रतिनन्द्यैतौ राघवं धर्मवत्सलम्।'* (६। २५। २७) इस प्रकार जय करते हुए दूत लंकाको गये।]

कहत रामजसु लंका आए। रावन चरन सीस तिन्ह नाए॥ २॥

अर्थ—रामयश कहते हुए वे लंका आये और उन्होंने रावणके चरणोंमें सिर नवाया। (क्योंकि रावण राजा है और इन्हींकी कृपासे रामदर्शन हुआ)॥ २॥

टिप्पणी—१ *'कहत'* पद दिया क्योंकि दूत कई हैं, आपसमें कहते चले आये। अकेला दूत होता तो 'बिचारत' पद देते। यथा—*'भरत बाहुबल सील गुन प्रभुपद प्रीति अपार। मन महुँ जात सराहत पुनि पुनि पवनकुमार॥'* (लं० ५९) यदि कहा जाय कि विभीषणजी भी मन्त्रियोंसहित आये थे पर उनके सम्बन्धमें भी बिचारत पद दिया है, यथा—*'एहि बिधि करत सप्रेम बिचारा',* तो उसका उत्तर है कि वे मनोरथ करते हुए आ रहे हैं (किसीसे बात करते नहीं)। मनोरथ मनमें किया जाता है, उसका वर्णन नहीं होता। अतएव वहाँ 'कहत' पद न दिया, किंतु 'करत' कहा। पुनः एक ही तुकमें रामयश कहते लंकामें आ जाना लिखकर जनाया कि रामयश कहते-कहते लंका पहुँच गये। इसीसे पंथ जल्द चुक गया, वे शीघ्र आ गये, रास्ता कुछ जान न पड़ा। यथा—*'एहि बिधि करत सप्रेम बिचारा। आयउ सपदि सिंधु एहि पारा॥'* (४३। १), *'पूछत कहत नवल इतिहासा। तब मधुबन भीतर सब आए।'* (२८। ६-७), *'सीय को सनेह सील कथा तथा लंककी चले कहत चाय सों सिरानो पथ छनमें।'* (क० ५। ३१)

श्रीलमगोड़ाजी—धन्य है रामयश कि शत्रुके दूत भी पीठ पीछे उसका गान कर रहे हैं। और, धन्य है सूक्ष्मदर्शी कविकी कला। जिसने उनसे पहले ही भावावेशमें श्रीरामस्वभावका प्रकटीकरण करा लिया फिर अब तो यशमें शब्दकी भी गुंजाइश नहीं रखी, कारण कि पीठ पीछे है, वहाँकी बातको मुँहदेखी और खुशामद कहा जा सकता था।

बिहँसि दसानन पूँछी बाता। कहसि न कस* आपनि कुसलाता॥ ३॥
पुनि कहु खबरि बिभीषन केरी। जाहि मृत्यु आई अति नेरी॥ ४॥
करतु राजु लंका सठ त्यागी। होइहि जव कर कीट अभागी॥ ५॥

अर्थ—रावणने खूब हँसकर बात पूछी। अरे शुक! अपनी कुशल क्यों नहीं कहता?॥ ३॥ फिर विभीषणजी समाचार कह, जिसकी मृत्यु अत्यन्त निकट आ गयी॥ ४॥ राज्य करता (सो ऐसी) लंकापुरीका राज्य उस शठने त्याग दिया (अर्थात् लंकाराज्यके समान त्रैलोक्यमें कोई दूसरा राज्य नहीं; अतएव शठ है और) भाग्यहीन है, वह अभागा यव (जौ) का कीड़ा (घुन) बनेगा। अर्थात् लंकामें मृत्युका भय नहीं है, इसे छोड़कर तपस्वियोंसे जा मिला कि जिनको मरना है, उनके साथ यह भी पिस जायगा॥ ५॥

श्रीलमगोड़ाजी *'कहसि न कस······'* यहाँ और अन्तसे *'कहसि न रिपु दल तेज बल बहुत चकित चित तोर'* ये दोनों वाक्य बीचमें प्रश्नोंके साथ नाटकीयकलाके सम्बन्धसे भी बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं। कारण कि—

(१) ये दूतोंकी आकृतिको साफ बता रहे हैं कि वे भयभीत और चकित हैं (अभिनेताको कितना सुन्दर संकेत है कि बिना शब्दोंके वैसी आकृति जना दें)।

(२) जितना ही वे चुप हैं, उतनी ही वक्ताकी उत्कण्ठा और बेसबरी बढ़ती जा रही है कि अनुमानोंके साथ प्रश्नके पुल बाँध दिये।

(३) अनुमानों और वास्तविकताके भेदका अवसर भी तो तनिक चुप्पीसे ही मिला और नाटकीय विरोध Dramatic Irony को बड़ी कुशलतासे उभार दिया गया।

(४) 'बिहँसि' से बात प्रारम्भ हुई, इससे ऊपरी नाटक विरोधके कारण हास्य-प्रिय द्रष्टा तो कह ही उठेगा कि 'लेना लपकके', विशेषकर जब रावण लक्ष्मणजीकी पत्रिकाको *'लघु तापस कर बाग बिलासा'* कहता है।

(५) हँसी और अनुमानोंने दूतोंके 'माख' को और भी उभार दिया। इसीसे उत्तर बहुत कड़े हैं और कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण भी। मानो दूत संकेत कर रहे हैं कि वाग्विलास तो तुम्हारा ही कथन है, तुम ही आकाशको उठाना चाहते हो, लघु तापस नहीं, हँसते हो हम सबोंपर, पर बात उलटी है।

'खबरि'-यह अर्बी भाषाका शब्द यहाँ कई बार आया है, इससे मेरा वह अनुमान पुष्ट होता है कि 'एखबार नवीस' की शक्लमें राजदूत मुगल-जमानेमें भी थे।

वीरकवि—*'करत राज लंका सठ त्यागी'* उपमेय वाक्य है, *'होइहि जव.....'* उपमान वाक्य है। दोनों वाक्योंमें बिना वाचक पदके विम्ब-प्रतिविम्ब झलकना कि घुनकी तरह तपस्वियोंके साथ वह भी पिसेगा 'दृष्टान्त अलङ्कार' है।

टिप्पणी—१ (क) *'बिहँसि पूछि'* इससे सबका निरादर जनाया जैसा आगे स्पष्ट है, यथा—*'मूढ़ मृषा का करसि बड़ाई'*। (ख) *'कहसि न कस '* से पाया गया कि रावणने एक बार पहले भी कुशल पूछी, पर दूत कुछ न बोले, चुप ही रहे, अतएव न कहनेका कारण पूछा। दूतोंने पहले ही बार न कह दिया चुप रहे जिसमें इसे जो कुछ पूछना है, सब पूछ ले, तब उत्तर दें।

टिप्पणी—२ *'पुनि कहु खबरि.....'* इति। (क) 'पुनि' अर्थात् अपना कुशल-समाचार कहकर तब विभीषणकी खबर पूछता है, कुशल नहीं। क्योंकि जब उसकी *'मृत्यु आई अति नेरी'* तब कुशल तो है ही

* सुक—(ना० प्र०, का०) ब्र० चं०—'पुनि·········' चण्डी, 'जाहि·········', (५) पायकुलक।

नहीं, कुशल पूछकर क्या करे? अतः 'खबर' पूछी। (ख) *'अति नेरी'* का भाव कि मृत्यु तो तभी आ गयी थी जब उसने सीताको देनेको कहा था और शत्रुकी बड़ाई की थी, यथा—*'सुनत दसानन उठा रिसाई। खल तोहि निकट मृत्यु अब आई॥'* (४१। २); और अब शत्रुसे जा मिला, इससे जान पड़ा कि मृत्यु 'अति निकट' आ गयी है। *'अति नेरी'* का स्वरूप आगे कहता है कि *'होइहि जव...'*

टिप्पणी—३(क) *'करत राज लंका.....'* इति। रावणके कथनका आशय यह है कि लंकामें मृत्यु नहीं आती। जिसकी मृत्यु निकट आती है उसकी बुद्धि हर जाती है, यथा—*'काल दंड गहि काहु न मारा। हरइ धर्म बल बुद्धि बिचारा॥'*; विभीषणकी बुद्धि हर ली गयी, इसीसे उसने राज्यका सुख आपहीसे छोड़ा, आगे प्राणोंकी भी हानि होगी। वैसे तो हम उनको न मारते पर अब वह यवका कीड़ा हो गया है,जब मैं शत्रुरूप अनाजको पीसूँगा तब उसीके साथ वह भी पिस जायगा। यवके भीतर घुसा है, इसीसे उसकी भी मृत्यु अति निकट है; क्योंकि शत्रुको हम बहुत शीघ्र मारना चाहते हैं। [वंदनपाठकजी—यहाँ यव राम-लक्ष्मण और कपि सेना है, विभीषण घुन, मैं (रावण) जाँत; अतः पीस डालूँगा। वा, कुम्भकर्ण और मैं चक्कीके दो पल्ले हैं, मेघनाद बीचकी कील है।] (ख) राज्य खोया और प्राण भी खोवेगा; अतएव अभागा है। जिसका विभव नष्ट हो जाय और जो अल्पायु हो वह अभागा है, यथा—*'रावन जबहि बिभीषन त्यागा। भयो बिभव बिनु तबहिं अभागा॥', 'आयूहीन भये सब तबहीं''* रावण जो कहता है इसका उलटा होगा, विभीषणने राज्य भी पाया और प्राण भी बचे। यथा—*'रावन क्रोध अनल निज स्वास समीर प्रचंड। जरत बिभीषण राखेउ दीन्हेउ राज अखंड॥'* इससे सिद्ध हुआ कि रावणकी बुद्धि अपहृत हो गयी है।

पुनि कहु भालु कीस कटकाई। कठिन काल प्रेरित चलि आई॥ ६॥
जिन्ह के जीवन कर रखवारा। भएउ मृदुल चित सिंधु बिचारा*॥ ७॥
कहु तपसिन्ह कै बात बहोरी। जिन्ह के हृदय त्रास अति मोरी†॥ ८॥

अर्थ—फिर भालु-वानर-सेना का समाचार कि कितने हैं कह, जो कठिन कालकी प्रेरणासे चलकर यहाँ आयी है॥ ६॥ जिनके प्राणोंका रक्षक कोमल चित्तवाला विचारा समुद्र हुआ है (अर्थात् समुद्र चाहता तो उनको रास्ता दे देता यह बात उसके अख्तियारकी थी, सब इस पार उतर आते, यथा—*'अपर जलचरन्ह ऊपर बिनु श्रम पारहिं जाहिं'*। पर समुद्रको उनपर करुणा आ गयी; इससे रास्ता नहीं देता कि पार जाते ही राक्षस इन्हें खा डालेंगे)॥ ७॥ फिर उन तपस्वियोंकी बात कह जिनके हृदयमें मेरा बड़ा डर है॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'पुनि कहु भालु कीस....'* इति। भालु-कीसकी सेना कितनी है यह बता। भाव कि जितनी अधिक हो उतना ही अच्छा है, सभी राक्षस तृप्त हो जायँगे। यथा—*'आए कीस कालके प्रेरे। छुधावंत रजनीचर मेरे॥'* (६। ३९। ३) (ख) *'कठिन काल'* का भाव कि सामान्य कालकी प्रेरणासे आते तो चाहे बच भी जाते पर कठिन कालके भेजे आये हैं, इससे न बचेंगे। जैसे सामान्य अल्प और विशेष अल्प वैसे ही सामान्य काल और कठिन काल। सामान्य अल्पमें लोग बच जाते हैं, पर विशेष अल्पमें नहीं बचते। (ग) *'काल प्रेरित'* का भाव कि तपस्वियोंके लानेसे नहीं आयी, काल ले आया है; नहीं तो उनसे सेनाको क्या लाभ था कि जो पृथ्वीभरके समस्त वानर एकत्र होकर मरने आये। (मिलान कीजिये—*'भालु नर बानर अहार निसिचरनि को, सोऊ नृपबालकनि माँगी धारि लही है। देखो काल कौतुक पिपीलिकनि पंख लागो, भाग मेरे लोगनि के भई चित चही है॥'* (गी० ५। २४)। (घ) *'चलि आई'*-भाव कि वानर निशाचरोंके सामने न आते, क्योंकि वे तो राक्षसोंके भक्ष्य हैं, कालप्रेरित उनके मुखमें आ रहे हैं। जो पूर्व मन्दोदरीसे कहा था कि *'जौं आवै मर्कट कटकाई। जिअहि बिचारे...'* वही यहाँ *'कठिन काल'* से जनाया।

टिप्पणी—२-*'भएउ मृदुल चित सिंधु बिचारा'* इति। मृदुलचित हो गया इसीसे उनकी मृत्युसे रक्षा की। *'बिचारा'* का भाव कि वह समर्थ रक्षक नहीं है कि उनके प्राण बचा ले। पुनः, भाव कि काल

* बेचारा—(ना० प्र०)। † ब्र० चं०—'पुनि...' नयमालिनी, 'कठिन...' 'जिन्ह....' पायकुलक, 'भएउ....' चंडी।

तो बहुत कठिन है वह तो उन्हें यहाँ लाकर छोड़ता और सिन्धु मृदुल हुआ है (यह उसकी मूर्खता है, वह बिचारा भला कठिन कालसे उन्हें बचा सकता है?)।

नोट—१ इससे यह भी सूचित होता है कि रावणका यह विश्वास है कि वानर सेना पारसे लंकामें नहीं आ सकती, समुद्र पार करना सम्भव नहीं। *'तिन्ह के जीवन कर रखवारा'* पर शङ्का हो सकती है कि 'निशाचर क्या पार नहीं जा सकते थे?' समाधान यह है कि रावणके कथनका आशय यह है कि जबतक हमारे निशाचर उस पार नहीं जाते तभीतक उनका जीवन बचा है। समुद्र उन्हें देरतक बचा नहीं सकता। कठिन कालकी प्रेरणासे सब समुद्र-तटपर एकत्रित हो गये हैं। लंकामें आ जानेपर कहा है कि *'घर बैठे अहार बिधि दीन्हा।'*, निशाचरोंको उस पार जानेका कष्ट भी न उठाना पड़ा।

टिप्पणी—३ *'कहु तपसिन्ह कै बात बहोरी'''* इति। (क) *'बात कहु'*, इससे न खुला कि क्या बात पूछता है, अतः दोहेमें उसे स्पष्ट करता है—*'भइ भेंट कि'''*। (ख)—यहाँ 'कुशल, खबर, कटक और बात' इन चार शब्दोंका प्रयोग पृथक्-पृथक् चारके लिये किया है। यह साभिप्राय है। दूतोंकी कुशल पूछी; क्योंकि सोचता है कि उनके दूतको हमने दण्ड दिया, इससे उन्होंने भी हमारे दूतोंको मारा न हो। विभीषणकी खबर पूछी क्योंकि जानता है कि वह मिलने गया है इससे उसे मारेंगे नहीं। भालु-कीश-कटकका भय है, अतः कटक पूछा। श्रीराम-लक्ष्मणका डर है इससे यह कहकर कि उनको मेरा अत्यन्त डर है (अर्थात् अपना डर उनपर ढालकर) उनको पूछता है। दूत, विभीषण और वानरोंको पूछकर अन्तमें दोनों भाइयोंको पूछा। जिसमें लोग यह न समझें कि रावणके हृदयमें उनका भय है। यदि सबके पहले उन्हींको पूछता तो सब समझ जाते कि वह उनको डरता है। हृदयका भय छिपानेके लिये अन्तमें पूछा। (ग)—प्रथम हँसकर पूछा, शत्रुको अन्तमें पूछा, उनको तपस्वी कहा और अपना भय उनमें आरोपण किया। यह सब अपने हृदयका भय छिपानेके लिये, यथा—*'सुनत सभय मन मुख मुसुकाई। कहत दसानन सबहि सुनाई॥'* (५७। १) (घ) *'अति त्रास'* का भाव कि मेरा भय तो सभी तपस्वियोंको है पर इन दोनोंको अत्यन्त भय है, क्योंकि ये हमारे शत्रु हैं, मैं भारी शत्रु हूँ; इसीसे इनको *'अति त्रास'* है।

श्रीलमगोड़ाजी—*'तपसिन्ह'* शब्दका बार-बार प्रयोग करके कवि किस सुन्दरतासे भोगी रावणकी घृणा वनवासी रामके प्रति प्रकट करता है। इन्द्रियलोलुप-सभ्यता आज भी तो महात्मा ईसा, बुद्ध और गांधीकी अवहेलना करती है, चाहे शब्दोंमें आदर भले हो। चर्चिल महोदयने तो गांधीजीको Naked Fakir नंगा फकीर शब्दोंमें भी कह दिया।

दो०—की भइ भेंट कि फिरि गए श्रवन सुजस सुनि मोर।
कहसि न रिपु दल तेज बल बहुत चकित चित तोर*॥५३॥

शब्दार्थ—**चकित**=चकराया हुआ, हक्का-बक्का, आश्चर्यान्वित, चकपकाया हुआ।

अर्थ—उनसे भेंट हुई या कि वे कानोंसे मेरा सुयश सुनकर लौट गये? शत्रुकी सेनाका तेज और बल क्यों नहीं कहता? तेरा चित्त बहुत चकित है?॥५३॥

टिप्पणी—१(क) रावण बार-बार पूछता है कि कहता क्यों नहीं? प्रथम कहा था कि *'कहसि न कस आपनि कुसलाता'* और यहाँ पुनः कहा कि *'कहसि न रिपु दल……'*। इससे जान पड़ता है कि दूत उसके डरसे श्रीरामजीका दल, तेज, बल आदि नहीं कह रहे हैं, क्योंकि शत्रुकी प्रशंसा सुनकर उसको क्रोध आ जाता है। यथा—*'रिपु उत्कर्ष कहत सठ दोऊ…'*, *'आन बीर बल सठ मम आगे। पुनि पुनि कहत लाज भय त्यागे॥'* इसीसे दूत क्षमा माँगकर तब उत्तर देते हैं। यथा—*'नाथ कृपा करि पूछेहु जैसे…'* अथवा, (ख) बराबर एकके बाद एक प्रश्न करता जाता है—*'कहसि न सुक आपनि कुसलाता'*, *'पुनि कहु खबर…'*, *'पुनि कहु भालु…'*, *'कहु तपसिन्ह कैं…'*, और *'कहसि न रिपुदल तेज……'*—इन प्रश्नोंके

* ब्र० चं०—शार्दूल दोहा।

वाक्योंसे कवि उसके हृदयका भय सूचित करते हैं कि दूत प्रश्नका उत्तर नहीं देने पाता और वह पूछता ही चला जाता है। (ग) प्रथम शत्रुका दल पूछा, पीछे शत्रुका तेजबल, उसी क्रमसे यहाँ दोहेमें *'रिपु दल तेज बल'* पूछता है।

टिप्पणी—२ *'श्रवन सुजस सुनि'* इति। सुयश यह कि रावणसे कोई नहीं जीत पाता, वह ऐसा प्रबल वीर है। सुयश सुनकर चले गये, क्या इसीसे तेरा चित्त बहुत चकित है कि ये क्या पूछते हैं, वे तो चले गये, मिले ही नहीं, तब हम क्या समाचार वर्णन करें? वा, उनकी सेना और तेजबल देखकर और स्वभाव सुनकर दूत चकित हो गये हैं, इसलिये रावण इस प्रकार कह रहा है कि तू चकरा गया है। क्या देखकर? रिपु-दल-तेज-बल क्यों नहीं कहता?

नोट—१ रावणके इन सब वाक्योंमें (*'बिहँसि दसानन पूछी बाता'* से यहाँतक) पाँड़ेजी आदि कुछ मानसविज्ञोंने गूढ़ अर्थ (अन्तर्लापिका वाणीमें) दिये हैं। प्रसङ्गानुकूल न जानकर उनको यहाँ नहीं दिया।

मिलान कीजिये—**'अयथावच्च वर्णो दीनश्चासि निशाचर। नासि कच्चिदमित्राणां क्रुद्धानां वशमागतः॥'** (वाल्मी० ६। ३०। ३) रावण दूतसे पूछ रहा है कि तू विवर्ण और दीन-सा हो रहा है, इसका क्या कारण है? शत्रुओंने बलसहित क्रुद्ध होकर तुझे वशमें तो नहीं कर लिया—यह भी भाव *'बहुत चकित चित तोर'* और *'कहसि न'* में है। अ० रा० में भी कहा है **'प्रहसन् रावणः प्राह पीडितः किं परैः शुक।'** (६। ४। १४) जैसा मानसमें प्रारम्भमें कहा है—*'बिहँसि दसानन पूछी बाता। कहसि न सुक आपनि कुसलाता॥'* (५३। ३)

नाथ कृपा करि पूँछेहु जैसे। मानहु कहा क्रोध तजि तैसे॥ १॥
मिला जाइ जब अनुज तुम्हारा। जातहि राम तिलक तेहि सारा॥ २॥
रावनदूत हमहिं सुनि काना। कपिन्ह बाँधि दीन्हें दुख नाना॥ ३॥
श्रवन नासिका काटइ लागे। रामसपथ दीन्हें हम त्यागे॥ ४॥

शब्दार्थ—**सारना**=सम्पूर्णरूपसे करना, करना।

अर्थ—हे नाथ! जैसे आपने कृपा करके पूछा है वैसे ही क्रोध छोड़कर मेरा कहना (सत्य) मानिये॥ १॥ जब आपका छोटा भाई जाकर मिला, तब उसके जाते ही श्रीरामचन्द्रजीने उसका तिलक कर दिया॥ २॥ हम रावणदूत हैं यह कानोंसे सुनकर वानरोंने हमें बाँधकर अनेक दुःख दिये॥ ३॥ वे हमारी नाक-कान काटने लगे। जब हमने श्रीरामजीकी शपथ दी तब उन्होंने छोड़ा॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'नाथ कृपा करि……'* इति। (क) कृपा करके पूछना यह कि पहले आपने हमारा कुशल पूछा और प्रसन्नतापूर्वक पूछा। (ख) जो बात कहनेकी है उसमें रावणको क्रोध होता, इसीसे प्रथम क्रोध छोड़नेको कहता है और रावण किसीकी बात मानता नहीं, इसीसे कहा कि मेरा वचन ठीक मानिये। अतएव दोनों बातोंके लिये प्रार्थना प्रथम की। (ग) *'पूँछेहु'* और *'मानहु तैसे'* का भाव कि मैं आपके पूछनेपर कहता हूँ, नहीं तो न कहता। (घ) *'अनुज तुम्हारा'* अर्थात् तुम शत्रु हो, शत्रुके भाईको शरणमें रखा। जाते ही राज्य दिया जैसे कोई किसीको भेंट दे। श्रीरामजीने स्वयं अपने हाथसे तिलक किया दूसरेसे नहीं कराया, ऐसा बड़ा आदर उनका किया। ['तुम्हारा अनुज' ऐसा कहनेका कारण कि विभीषणजीने स्पष्ट यही रामजीसे कहा था, यथा—*'नाथ दसानन कर मैं भ्राता।'* (प्र०) तिलक करनेसे रावणके वध करनेकी दृढ़ता व्यञ्जित करना व्यङ्ग है।] पुनः, (ङ) *'तिलक सारा'* अर्थात् लङ्काका राज्य दे दिया। ऐसा उनका कोमल स्वभाव है और शरणागत उनको इतना प्रिय है। तात्पर्य कि आप भी यदि जाकर मिलें तो आपपर भी कृपा करेंगे, यही बात आगे स्पष्ट कहेंगे, यथा—*'अति कोमल रघुबीर सुभाऊ'*''' *मिलत कृपा तुम्ह पर प्रभु करिहैं''' '।*

टिप्पणी—२ रावणने प्रथम दूतोंका कुशल पूछा, पीछे विभीषणकी खबर और दूतोंने प्रथम विभीषणका

हाल कहकर तब अपना हाल कहा। कारण कि जैसे-जैसे जिस क्रमसे जो बात हुई है उसी क्रमसे उन्होंने कहा। पहले विभीषण मिले, उनका तिलक हुआ,पीछे दूत पहिचाने और मारे गये।

टिप्पणी—३ (क) *'सुनि काना'* का भाव कि जैसे ही कानमें भनक पड़ी कि ये रावणके दूत हैं वैसे ही उन्होंने मारना शुरू कर दिया, फिर न विचार किया कि दूत हैं कि नहीं। इससे जनाया कि वानरोंको तुमपर इतना क्रोध है। और, शरणागतपर ऐसा प्रेम कि उसे (यद्यपि वह तुम्हारा भाई था) राज्य दिया। (ख) पूर्व कहा है कि *'रिपुके दूत कपिन्ह तब जाने। सकल बाँधि''''* ; और यहाँ कहते हैं कि *'रावन दूत हमहिं सुनि काना।'* दोनों वाक्योंका समानाधिकरण यों होता है कि जब राक्षसोंका अपना तन प्रकट हो गया, कपटी वानरतन जाता रहा तब कुछ वानरोंने देखकर कहा कि ये रावणके दूत हैं, यह सुनते ही और सब वानर भी आ गये और मारने लगे। अथवा, यों कि जब राक्षस-तन प्रकट हुआ तब वानरोंने पूछा कि तुम कौन हो? तब इन्होंने बताया कि हम रावणके दूत हैं। अथवा, विभीषणजीके मन्त्रियोंने बता दिया कि हमारे साथके नहीं हैं, यह सुनकर दुःख दिया। (ग) *'रावनदूत हमहिं'''* का तात्पर्य कि हमने उनका कुछ अपराध नहीं किया, केवल तुम्हारे नामसे (तुम्हारे सम्बन्धसे) मारे गये। 'कपिन्ह' अर्थात् रामजीने दुःख नहीं दिया, वानरोंने दुःख दिया।

टिप्पणी—४ *'राम सपथ दीन्हे हम त्यागे।'* इति। भाव यह कि तुम्हारे निहोरेसे हमने यहाँतक दुःख सहा, हमने रामशपथ न दी; पर जब वे हमारे नाक-कान काटने लगे तब हमने उनको रामजीकी शपथ दी। रामशपथ सुनते ही उन्होंने छोड़ दिया। यदि हम प्रथम रामदोहाई करते तो वे कदापि दुःख न देते। पूर्व *'कोशलाधीशकी आना'* कहा था उसका अर्थ यहाँ खोला—'रामसपथ' (वाल्मीकीयमें दूतने कहा है कि हमने श्रीरामजीसे प्राणोंकी भिक्षा माँगी तब उन्होंने छुड़ा दिया। मानस-कल्पके वानर श्रीरामजीके परम भक्त हैं, श्रीरामदोहाई सुनते ही उन्होंने छोड़ दिया)।

पूछेहु* नाथ राम कटकाई। बदन कोटि सत बरनि न जाई॥ ५॥
नाना बरन भालु कपि धारी। बिकटानन बिसाल भयकारी॥ ६॥
जेहि पुर दहेउ हतेउ सुत तोरा। सकल कपिन्ह महँ तेहि बल थोरा॥ ७॥

अर्थ—हे नाथ! आपने श्रीरामजीकी सेना पूछी। सो वह तो सौ करोड़ भी मुखोंसे भी वर्णन नहीं की जा सकती॥ ५॥ वानर-भालुकी सेना अनेक वर्ण-(रङ्ग-)की है। उनके मुख विकट (भयङ्कर) हैं; वे विशाल और भयङ्कर हैं॥ ६॥ जिसने तुम्हारा नगर जलाया और तुम्हारे पुत्रको मारा उसका बल तो सब वानरोंसे कम है॥ ७॥

टिप्पणी—१ *'बदन कोटि सत'''* का भाव कि आपके इस प्रश्नका कि सेना कितनी है, हम क्या उत्तर दे सकते हैं, शतकोटि मुख भी यदि किसीके हों तो भी वह वर्णन नहीं कर सकता तब भला एक-एक मुखसे हम कैसे वर्णन कर सकें। अपना और विभीषणका हाल हमने कहा, कटकका हाल हम नहीं कह सकते, यथा—*'बानर कटक उमा मैं देखा। सो मूरुख जो करन चह लेखा॥'* (४। २२। १) (ये शिवजीके वाक्य हैं। मूर्ख ही भले कहे, दूसरा नहीं कह सकता। हम कुछ कहें तो हमारी गणना भी मूर्खोंमें होगी।)

टिप्पणी—२ *'नाना बरन'* से अनेक देशोंके अनेक जातिके सूचित किये। विशाल अर्थात् भारी शरीरवाले हैं, इसीसे भयंकर हैं; पुनः उनके मुख विकट विशाल और भयकारी हैं। 'धारी'—जो सेना मारने-काटने-वाली होती है उसे धारी कहते हैं। (वाल्मी० ६। २६। ९ से लेकर ६। २९। ५ तक कुछ वानर-सेनाका वर्णन है। किष्किन्धामें नाना वर्णका वर्णन है)।

टिप्पणी—३ *'जेहि पुर दहेउ हतेउ तोरा'''* इति। ये दोनों काम कठिन थे। उनमें लंकापुर दहन तो

* पूछेहु—(का०, ना० प्र०)। 'पूछिहु'—(भा० दा०—छे पर हरताल लगाकर छि बनाया है)।

अत्यन्त कठिन है, इसीसे पुरका जलाना प्रथम कहा। हनुमान्‌जीका बल बहुत थोड़ा कहकर जनाया कि और वानरोंका बल बहुत है—यह बात आगे कहते हैं।

श्रीहनुमान्‌जी	अन्य वानर
समुद्र लाँघ गये—*'बारिधि पार गयउ'*	*सोखहि सिंधु सहित झख ब्याला*
कछु मारेसि कछु मर्देसि कछु.....	*मर्दि गर्द मिलवहिं दससीसा*
इनको प्रभुने आज्ञा दी थी	इनको आज्ञा नहीं देते कि जो कहते हैं उसे सत्य करें।
उलटि पलटि लंका सब जारी	*'मानहु ग्रसन चहत हहिं लंका।', 'अमित नागबल बिपुल बिसाला'*

तात्पर्य यह कि रामदलकी प्रबलता दिखानेके लिये हनुमान्‌जीके बलको सबके बलसे थोड़ा कहा। यथा—***'जो अति सुभट सराहेहु रावन। सो सुग्रीव केर लघु धावन॥ चलै बहुत सो बीर न होई। पठवा खबरि लेन हम सोई॥*** ६। २३। ९-१०।' (वाल्मी० यु० में जो शुकनामक दूत प्रथम भेजा गया था उसने भी श्रीहनुमान्‌जीके सम्बन्धमें यही कहा है कि वह तो अङ्गदके नेतृत्वमें उनके साथ था और अङ्गदका भेजा यहाँ आया था। इसी तरह श्रीहनुमान्‌जीने श्रीसीताजीको धीरज देनेके लिये कहा है कि वानरराज सुग्रीवके यहाँ मुझसे छोटा कोई वानर नहीं है, मुझसे सब बड़े हैं, कुछ मेरे समान हैं। मैं छोटा हूँ इसीसे यहाँ भेजा गया। बड़े दूत बनाकर नहीं भेजे जाते। यथा—'**मद्विशिष्टाश्च तुल्याश्च सन्ति यत्र वनौकसः। मत्तः प्रत्यवरः कश्चिन्नास्ति सुग्रीवसन्निधौ॥ अहं तावदिह प्राप्तः किं पुनस्ते महाबलाः। न हि प्रकृष्टाः प्रेष्यन्ते प्रेष्यन्ते हीतरे जनाः॥**' (५। ३९। ३८-३९) वैसे ही रावणको भयदर्शनके लिये शुकने हनुमान्‌जीको सबसे छोटा कहा। (श्रीहनुमान्‌जीको अल्पपराक्रमी कहकर अन्य वीरोंकी अतिशय बड़ाई करना 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार' है)। अथवा थोड़ा बल इससे जाना कि वहाँ जो इसने देखा तो उनकी प्रधानता कुछ नहीं देख पड़ी; न तो श्रीरामचन्द्रजीने उनसे कोई राय पूछी और न वह और वानरोंकी तरह *'मर्दि गर्द मिलवहिं दससीसा'* इत्यादि कुछ बोलते देख पड़ते थे। न तो वे रूपमें किसीसे बड़े हैं और न वे गरजते कूदते पाये गये। मानो वे सेनामें हैं ही नहीं। —[श्रीहनुमान्‌जी तो बड़ी दीनतापूर्वक छोटे रूपसे हाथ जोड़े हुए प्रभुके समीप चुपचाप खड़े होंगे। इसीसे शुकने जैसा देखकर अनुमानसे समझा वैसा ही कहा। (मा० सं०)]

श्रीलमगोड़ाजी—अनुमान और वास्तविकताके विरोधका नाटकीय-कलावाला आनन्द तो उपर्युक्त कोष्ठकमें आ ही गया। मजेकी बात यह है कि दूतोंकी बढ़बत्तीका आनन्द भी आ चला है, कारण मैं पहले बता चुका हूँ।

अमित नाम भट कठिन कराला। अमित नाग बल बिपुल बिसाला॥ ८॥

दो०—द्विबिद मयंद नील नल अंगद* गद बिकटास्य†।
दधिमुख केहरि निसठ‡ सठ जामवंत बलरासि॥ ५४॥

अर्थ—संख्यारहित भट हैं, अमित नामके हैं, (स्वभावके एवं युद्धमें उनका जीतना) वे अति कठिन और (देहसे) भयंकर हैं उनमें अमित हाथियोंके बलसे भी भारी और विशाल हैं एवं वे बहुत विशाल हैं। (अमित नामके भट हैं। उनमेंसे कुछ ये हैं) द्विविद, मयन्द, नील, नल, अङ्गद, गद, विकटास्य, दधिमुख, केहरि, निसठ, सठ, और जामवंत—ये सब बलराशि हैं। (तात्पर्य कि ये सब सुभट सुग्रीवके पास बैठे थे। सब दूतोंको वानर वहाँ ले गये थे। इसीसे इनके नाम गिनाये और इन्हें सुग्रीवके समान बलवान् बताया)॥ ५४॥

नोट—१ (क) द्विविद और मयन्द अश्विनीकुमारके पुत्र और उन्हींके समान दुर्धर्ष बलवान् थे—'**मैन्दश्च द्विविदश्चोभौ बलिनावश्विसम्भवौ।**'(वाल्मी० ६। ३०। २५) ये देवताओंके समान रूपवान् युवक, युद्धमें दुर्धर्ष और दुष्प्रेक्ष्य थे। ब्रह्माकी आज्ञासे ये अमृत-पान कर चुके थे। (वाल्मी० ६। २८। ६।) (ख) नील अग्निदेवके पुत्र और नल विश्वकर्माजीके पुत्र हैं। ये दोनों विन्ध्याचलनिवासी और दस-दस करोड़ वानरोंके यूथपति थे। (वाल्मी० ६। ३०। ३३, ६। २७। ४७, ४८)(ग) दधिमुख चन्द्रमाका पुत्र सौम्यभाव।

* अङ्गदादि—(रा० प०) † बिकटासि—(का०ना०प्र०, ब०चं०)। पं० रामगुलाम द्विवेदीका पाठ और भा०दा० का वह है जो पाठमें दिया गया। ‡ कुमुद गव—का०,ना० प्र०।

(६। ३०। २२) (घ) केहरि=केसरीजी। ये देवगुरु बृहस्पतिके पुत्र हैं। (६। ३०। २१) ये श्रीहनुमान्‌जीके पिता हैं। अङ्गद और जामवंतको सब जानते ही हैं। 'गद' नाम वाल्मी० में नहीं मिला। 'गव' और 'गज' नामके एक-एक यूथपति गिनाये गये हैं। अन्यत्र भी यह नाम आया है। यथा—*'संग नील नल कुमुद गद जामवंत जुबराजु। चले राम पद नाइ सिर सगुन सुमंगल साजु॥'* विश्वकोश तथा शब्दसागरमें भी गद, सठ, निसठ शब्द नहीं मिले।

हालनाजी लिखते हैं कि—मर्मज्ञोंसे छिपा नहीं है कि 'विकटास्य' संस्कृतका शुद्ध और कठिन शब्द है। यह नहीं माना जा सकता कि गोसाईंजीने 'बिकटास्य' पाठ रखा हो। ठीक 'बिकटासि' ही है। यह भी ध्यान देनेकी बात है कि दोहेमें तुकान्त मिलना चाहिये। यहाँ 'बिकटासि' और 'बलरासि' का तुक मिल जाता है पर बिकटास्य और बलरासिका तुक न मिलनेसे बड़ा कर्णकटु मालूम होता है। भागवतदासजीका पाठ 'बिकटास्य' है और पं० रामकुमारजीने भी इसी पाठको दिया है। तुकान्त न मिलनेके कारण वे दोहा ३८ में कह चुके हैं। अतः हमने वही पाठ रखा है॥

टिप्पणी—१ यहाँ वीरोंकी गणनामें श्रीहनुमान्‌जीका नाम नहीं कहा, क्योंकि इन सबोंको बलराशि कहता है और हनुमान्‌जीको थोड़े बलका कह चुका है। यहाँ रावणदलसे रामदलकी विशेषता दिखाते हैं—

कुमुख अकंपन कुलिसरद धूमकेतु अतिकाय। द्विविद मयंद'''' बलरासि॥
एक एक जग जीति सक ऐसे सुभट निकाय॥ तृन समान त्रैलोकहि गनहीं।

ए कपि सब सुग्रीव समाना। इन्ह सम कोटिन्ह गनइ को नाना॥ १॥
रामकृपा अतुलित बल तिन्हहीं। तृन समान त्रैलोकहि गनहीं॥ २॥
अस मैं सुना* श्रवन दसकंधर। पदुम अठारह जूथप बंदर॥ ३॥
नाथ कटक महँ सो कपि नाहीं। जो न तुम्हहिं जीतइ रन माहीं॥ ४॥

अर्थ—ये सब कपि सुग्रीवके समान (बलवान्) हैं और इनके समान करोड़ों हैं, अनेक हैं, उन्हें कौन गिन सकता है?॥ १॥ श्रीरामकृपासे उनमें अतुलनीय बल है, वे त्रैलोकको तिनकेके समान गिनते हैं॥ २॥ हे दशकंधर! मैंने कानोंसे ऐसा सुना है कि बंदरोंके यूथपतियोंकी संख्या १८ पद्म है॥ ३॥ हे नाथ! श्रीरामजीकी सेनामें ऐसा कोई वानर नहीं है जो तुम्हें संग्राममें जीत न सके॥ ४॥

नोट—१(क) *'ए कपि सब सुग्रीव समाना'* कहनेका भाव कि यह सुग्रीवके मन्त्रियोंकी सेना मैंने कही, यथा—'**अन्येषां तु बलं नाहं वक्तुं शक्तोऽस्मि रावण।**'(अ० रा० ६। ४। ३९) यह सेना ४० कोस लंबाई और चालीस कोस चौड़ाईमें पड़ी थी।

टिप्पणी—१ (क) *'इन्ह सम कोटिन्ह गनइ को नाना।'* यहाँ कोटिन्ह कहकर फिर 'नाना' भी कहनेका यह प्रयोजन कि इनके समान 'कोटिन्ह' हैं, फिर उन 'कोटिन्ह' के समान 'कोटिन्ह' हैं, पुनः उनके समान और 'कोटिन्ह' हैं, इस प्रकार अनेक हैं। कौन गिने? अर्थात् जो गिने वह मूर्ख बने—*'सो मूरुख जो करन चह लेखा।'* (ख) इस प्रकार क्यों कहा? यही क्यों न कह दिया कि सब सुग्रीवके समान हैं? उत्तर—यह ग्रन्थकारका सँभाल है। प्रधान यूथपतियोंको सुग्रीवके समान कहा; क्योंकि ये सब सर्दार हैं? और वानर जो सेनामें सिपाही हैं उनको सुग्रीवके समान कैसे कह सकता है? राजा और सिपाही बराबर नहीं हो सकते, सिपाहीको राजाके समान कहना अनुचित है। इनके समान कहा, यह मर्यादा है—'**पूर्णगुणमुपमानं न्यूनगुणमुपमेयम्**' अर्थात् उपमानमें पूर्ण गुण होते हैं, उपमेयमें उससे न्यून होते हैं, इस नियमानुसार 'सुग्रीव समाना' कहकर भी उन्हें सुग्रीवजीसे कुछ न्यून जनाया। फिर कोटिन्हको जिनके समान कहा, उन्हें उनके उपमानोंसे कुछ न्यून जनाया। इसी तरह क्रमशः प्रथमसे दूसरोंमें, दूसरोंसे तीसरेमें इत्यादि न्यूनता भी युक्तिसे जना दी। यद्यपि साधारण दृष्टिसे तो सब सुग्रीवके समान ही कहे गये हैं। (अथवा, प्रथम सबको समान

* श्रवन सुना—का०, ना० प्र०।

कहा, उसमें शंका हो सकती है कि सब समान कैसे? अतः आगे कहते हैं कि *'रामकृपा अतुलित बल तिन्हहीं')*। ['कोटिन्ह' और 'नाना' शब्द अत्यन्तसे भी अत्यन्त बाहुल्यका बोधक है। (मा० त० सु०)]

टिप्पणी—२ (क) *'रामकृपा अतुलित बल तिन्हहीं''''* इति। भाव यह कि पहले बलराशि थे, अब रामकृपासे उनमें सुग्रीवके समान अतुलित बल है, यथा—*'राम कृपा बल पाइ कपिंदा। भये पक्षयुत मनहुँ गिरिंदा॥'* (३५। ३) (ख) *'अतुलित'* का भाव कि पहले उनके बलकी तौल (अंदाज) थी कि *'अमित नाग बल बिपुल''''* और अब रामकृपासे अतुलित बल है। अतुलित बलका स्वरूप दिखाते हैं कि त्रैलोक्यको तृणवत् समझते हैं।

नोट—१ *'तृन समान''''* इति। बालकाण्डमें रावणके प्रधान सुभटोंके सम्बन्धमें कहा था कि *'कुमुख अकंपन कुलिसरद धूमकेतु अतिकाय। एक एक जग जीति सक ऐसे सुभट निकाय॥'* (१। १८०), और वानरोंके सम्बन्धमें इतना ही कहा था कि *'बनचर देह धरी छिति माहीं। अतुलित बल प्रताप तिन्ह पाहीं॥'* (१। १८८। ३); वहाँ *'अतुलित बल'* को स्पष्ट नहीं किया। यहाँ अवसर आनेपर उसे खोला कि ऐसा अतुलित बल है कि *'तृन समान त्रैलोकहि गनहीं।'* अथवा, उस समय भी असीम बल था पर ऐसा सामर्थ्य उस समय न था, अब श्रीरामकृपासे उनका बल ऐसा हो गया कि त्रैलोक्यको वे कुछ नहीं समझते, इसीसे उस समय यह बल न कहा गया, अब जब वह सामर्थ्य प्राप्त हुआ तब कहा।

इस तरह श्रीरामकृपासे वानरोंमें निशाचर-सुभटोंसे अधिक बल दिखाया। भाव कि आपके एक-एक राक्षस तो जगत्को जीत सकते हैं और वानर तो त्रैलोक्यको अपने सामने तृणवत् तुच्छ समझते हैं, जीतनेका तो वहाँ प्रश्न ही नहीं उठ सकता।

टिप्पणी—३ (क) श्रवणसे सुना कि १८ पद्म यूथप हैं, निश्चय नहीं कि इतने ही हैं या अधिक। भाव कि इतने यूथप हैं तब सेना तो अमित होगी। अतः *'बदन कोटि सत बरनि न जाई।'* यूथपकी भी संख्या सुनी कही, उसको निश्चय नहीं किया; क्योंकि जो निश्चय करनेका साहस करे वह मूर्ख ही होगा—*'सो मूरुख जो''''* (ख)—यूथ=समूह, यथा—*'गगन बिमल संकुल सुर जूथा''''सुर समूह बिनती करी।'* वा, **'अर्बुदं दशकोटीनां मुनिभिः कथितं बुधैः, दशार्बुदं भवेद्यत्र सोऽपि यूथः प्रकथ्यते।'** अर्थात् सौ करोड़का एक यूथ होता है, प्रत्येक यूथका एक यूथप होता है। अर्थात् सौ-सौ करोड़ एक-एक सेनापतिके हिसाबसे १८ पद्म सेनापति हैं ऐसा सुना है।

मा० त० सु०—बुद्धिमान् लोग वस्तुओंको गिनकर उनकी संख्या नहीं करते, अपने पक्के अनुमानसे जाँच लेते हैं। अतएव पहले ही कहा कि मैं वानररूप धारण कर वहाँ घूम रहा था तब वहाँके मुखिया लोगोंसे सुना, किंतु स्वयं गिनती नहीं कर सकता। पहले यह कह आये हैं कि *'सो मूरुख जो करन चह लेखा'* और यहाँ पद्म संख्या कहते हैं, यह क्यों? उत्तर यह है कि वह वाक्यसमुदाय सेनाके विषयमें है और यह परिगणित सेनापतियोंके विषयमें है। (मा० त० सु०)

नोट—२ वंदनपाठकजीका मत है कि दूत मार खानेसे घबड़ा गया है इसीसे पद्म कहा, नहीं तो संख्या महापद्म है। हनुमन्नाटक आदि प्रमाण हैं। पुनः यथा अग्निवेशरामायणे—**'एतेषां गणना नवद्वयमहापद्मावधिर्वर्णिता।'** अर्थात् १८ महापद्म कही गयी है। वाल्मीकीयमें दूतोंने पद्म आदिकी व्याख्या इस प्रकार की है—एक लक्ष कोटि=शङ्कु। एक लक्ष शङ्कु=महाशङ्कु। एक लक्ष महाशङ्कु=वृन्द। एक लक्ष वृन्द=महावृन्द। एक लक्ष महावृन्द=पद्म। एक लक्ष पद्म=महापद्म। इसी प्रकार आगे खर्व, महाखर्व, समुद्र, मोघ और महोघकी संख्या कर लीजिये। (वाल्मी० ६। २८। ३५, ३६, ३७)

टिप्पणी—४ *'जो न तुम्हहिं जीतै''''* इति। (क) प्रत्येक वानर त्रैलोकको तृणवत् समझता है, तब एक रावण क्या है, कोई भी वानर तो ऐसा नहीं जो तुमको न जीत सके। तात्पर्य कि एक कपि जो सबसे बलमें कम है जब वही सारी लंकाको जीतकर चला गया, तब जो उससे बड़े हैं वे तुम्हें क्यों न जीतेंगे? अब रावणका डर छोड़कर दूत यथार्थ कह रहा है, ऐसे कठोर वचन भी सुनकर रावणने क्रोध न किया; क्योंकि वह प्रथम ही विनय कर चुका है कि *'मानेहु कहा क्रोध तजि तैसे'*।

वि० त्रि०—प्रश्नानुरूप उत्तर है। रावणने प्रश्न किया *'पुनि कहु भालु कीस कटकाई। कठिन काल प्रेरित चलि आई॥ जिन्ह के जीवन कर रखवारा। भयेउ मृदुल चित सिंधु बिचारा॥'* रावण उन बंदरोंको प्राकृत बंदर समझ रहे हैं। हनुमान्‌जीका पराक्रम देख लिया है फिर भी वही राग अलापते हैं। ऐसे रोगीको चैतन्य करनेके लिये तीव्रातितीव्र उपचारकी आवश्यकता है, अतः वह कहता है कि इस खयालमें न रहिये, मैं उनका बल देखकर आ रहा हूँ। मुझे बाँध लिया और मेरा किया कुछ न हुआ, आपका किया भी कुछ न होगा। इसलिये कहता है—*'नाथ कटक महँ सो कपि नाहीं। जो न तुम्हहिं जीतै रन माहीं॥'*

दूसरी बात भी ठीक है। *'अस कपि एक न सेना माहीं। राम कुसल जेहि पूछा नाहीं॥'* जिससे रामजीने कुशल पूछा, उसका पराभव कौन कर सकता है?

नोट—३ रावणने पूछा था *'पुनि कहु भालु कीस कटकाई',* वही दूत कहता है कि *'पूँछेहु नाथ राम कटकाई';* यहाँ *'कटक महँ सो कपि नाहीं'* कहकर जनाता है कि 'कटकाई' के धोखेमें न रहना, वहाँ बड़ा भारी 'कटक' है, जिसका एक-एक वानर आपको रणमें सम्मुख संग्राम करके जीतनेको समर्थ है।

श्रीलमगोड़ाजी—महाकाव्यकलाके प्रेमी 'दिव्य' और अंशी वानरोंकी महिमा और लघिमा आदि सिद्धियोंका आनन्द लें और अंग्रेजी पढ़े मित्र मिल्टनके वर्णनोंको न भूलें जिनमें भी वैसी ही सिद्धियाँ मानी गयी हैं। पर मजा तो यह है कि हमारा कुशल कवि नाटकीय और महाकाव्य कलाओंका एकीकरण जमीन-आसमानके कुलाबे मिलाकर एक कर देता है। देखिये बढ़बत्ती मारने और दूनकी लेनेकी अवस्थामें दूत हैं ही और जिससे सुना होगा वह भी डींगकी ले रहा होगा। जैसे, रावणको मर्दि गर्द कर धूलमें मिलाना, इत्यादि। जन-साधारण हजारका मेला देखकर आवे तो लाखों कह देगा। फिर नाटकीय कलामें 'सुने' शब्द इस ओर भी संकेत कर रहा है कि 'बेपरकी उड़ानेमें दूत 'सुने' शब्दकी आड़ ही ले रहा है कि पोल खुल गयी तो कह दूँगा कि सुनी-सुनायी बात थी, मैंने गिना थोड़े ही था।' कहाँतक व्याख्या की जाय, भाव और कला-मर्मज्ञ कवि धन्य है। दोनों कलाओंका ठीक ज्ञान न होनेसे ही वैसी शंकाएँ होती हैं जैसी मा० त० सु० और वंदनपाठकजीकी टिप्पणियोंमें की गयी हैं। एक फ़ारसी मसला है **'जहाँदीदा बिसियार गोयद दरोग।'** दुनिया देखे हुए मनुष्य घरवालोंसे बढ़बत्ती लेनेमें बहुत झूठ बोलते हैं। दूसरा मसला यह है कि **'दरोगगो रा हाफिजा न बाशद'**, झूठेको स्मरण नहीं रहता, उसकी बातोंमें पूर्वापर विरोध रहता है।

नाटकीय सत्य दिखानेमें कविने बड़ा कौशल दिखाया है और फिर कमाल यह है कि महाकाव्यकला भी हाथसे न जाने पाये। सोचिये तो, बोलनेवाला युधिष्ठिर नहीं, किन्तु रावणद्वारा अपमानित राक्षस दूत है, जिसमें आखिर आसुरी सम्पत्ति ही तो प्रधान है।

परम क्रोध मीजहिं* सब हाथा। आएसु पै न देहिं रघुनाथा॥५॥
सोखहिं सिंधु सहित झष ब्याला। पूरहिं न त भरि कुधर बिसाला॥६॥
मर्दि गर्द† मिलवहिं दससीसा। ऐसेइ बचन कहहिं सब कीसा॥७॥
गर्जहिं तर्जहिं सहज असंका। मानहुँ ग्रसन चहत हहिं लंका॥८॥

अर्थ—परमक्रोधसे वे सब हाथ मींजते (मलते) हैं; पर रघुनाथजी आज्ञा नहीं देते॥ ५॥ समुद्रको मछली और सर्पोंसहित हम सोख लेंगे, नहीं तो उसे बड़े-बड़े पर्वतोंसे भरकर पुर (पाट) देंगे, दशशीशको मसलकर धूलमें मिला देंगे—इसी प्रकारके वचन सब वानर कह रहे हैं॥ ६,७॥ सब स्वाभाविक ही निःशंक हैं, गर्ज रहे हैं, दपट रहे हैं मानो लङ्कापुरीको ग्रास करना (निगल जाना) ही चाहते हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१(क) *'परम क्रोध'''*' इति। अर्थात् तुमको पा जायँ तो जीत ही लें; नहीं पाते इससे हाथ मलते हैं क्योंकि बीचमें समुद्र है; उसे सोख सकते हैं, पाट सकते हैं, पर क्या करें आज्ञा नहीं मिलती। (ख) रावणने जो कहा था कि वानर सेना कठिन कालकी प्रेरणासे चली आयी है, उसकी उत्तर यहाँ दिया कि वानर तुम्हारे

* मीजहिं—(ना० प्र०) † गर्दि—(का०)।

काल हैं, पर श्रीरघुनाथजी आज्ञा नहीं देते। (ग) रावणने जो कहा था कि *'भयउ मृदुल चित सिंधु बिचारा'* उसका उत्तर देते हैं कि *'सोखहिं सिंधु''''* (घ) प्रथम तो यही चाहते हैं कि समुद्रको सोख लें और सोख ही डालेंगे; पर कदाचित् इसकी आज्ञा न मिले तो वे उसे पर्वतोंसे पाट देनेको तैयार हैं, इसमें सिंधु उन्हें नहीं रोक सकता, श्रीरामजीकी आज्ञा ही रोके हुए है। जिस समुद्रमें हजारों कोसके एक-एक जलचर भरे पड़े हैं उसे ये सोख लेनेको कहते हैं, बस, इसीसे इनके स्वरूपका अनुमान कर लो।

टिप्पणी—२-*'मर्दि गर्द मिलवहिं''''* इति। (क) भाव कि जबतक उस पार हैं तभीतक हाथ मलते हैं, जहाँ सिंधुको सोख या पाटकर इस पार आये तब तो, वे कहते हैं कि हम रावणको मसलकर गर्दमें मिला देंगे। सब ऐसा कहते हैं; भाव कि जब एक कहता है कि हम मर्दन करेंगे तब दूसरा कहता है कि हम 'मर्देंगे' इस प्रकार सब कहते हैं क्योंकि सभी विशाल हैं, यथा—*'नाथ कटक महँ सो कपि नाहीं। जो न तुम्हहिं जीतै रन माहीं॥'* (मिलान कीजिये—**'एषैवाशंसते लंकां स्वेनानीकेन मर्दितुम्।'**(वाल्मी० ६। २६। २३), **'शक्ताः सर्वे चूर्णयितुं लङ्कां रक्षोगणैः सह।'** (अ० रा० ६। ४। ३७)। (ख) *'गर्जहिं तर्जहिं''''।'* हाथ मलते हैं कि आज्ञा पावें तो समुद्रको सोखकर रावणको गर्दमें मिला दें—ऐसा कहकर गर्जते हैं, मानो रावणको मारकर गर्ज रहे हों; ऐसा आवेश उनमें हो आया है। सहज अशंक हैं, तुम्हारी शंका उनको नहीं है। (ग) *'मानहु ग्रसन चहत हहिं''''* इति। भाव यह कि जब लङ्काकी ओर क्रोधमें भरकर देखते हैं तब ऐसा मुख फैलाते हैं मानो लङ्काको खाना ही चाहते हैं। जब उनमें यह शक्ति रामकृपासे है कि मछली और व्यालसहित समुद्रको सोख सकते हैं तब लङ्काको ग्रास कर जाना क्या बात है?

नोट—१ इन चौपाइयोंसे जनाया कि सब वानर बड़े शूरवीर, तेजस्वी, विशालकाय और युद्धोत्साही हैं। यथा—**'शूराः सर्वे महाकायाः सर्वे युद्धाभिकाङ्क्षिणः।'** (अ० रा० ६। ४। ३६) उत्तरोत्तर उत्कर्ष वर्णनमें 'सार अलंकार' है।

श्रीलमगोड़ाजी—धन्य है फिर नाटकीय कला! लक्ष्मणजीने तो कहा था कि आप क्रोध करके समुद्र सोख लें, पर श्रीरामजी समुद्रसे प्रार्थना ही करते हैं। उधर वानर ले डंडे, लगे दूनकी लेने और इधर दूतोंने भी वही कह सुनाया और कहा कि समुद्रका डर नहीं है, जैसा आप सोच रहे हैं, किन्तु श्रीरामजी ही आज्ञा नहीं दे रहे हैं।

दो०—सहज सूर कपि भालु सब पुनि सिर पर प्रभु राम।
रावन काल कोटि कहुँ जीति सकहिं संग्राम*॥ ५५॥

अर्थ—सब वानर-भालु सहज ही शूरवीर हैं फिर उनके सिरपर (अर्थात् सबके स्वामी, रक्षक) समर्थ श्रीरामचन्द्रजी हैं। जो रावण क्या, करोड़ों कालोंको भी संग्राममें जीत सकते हैं॥ ५५॥

मा० त० सु०—*'सहज सूर'* का भाव कि बिना अस्त्र-शस्त्रके नख और वृक्ष आदिद्वारा महा अति रथ योद्धाओंसे भी युद्ध करनेवाले हैं। कवच आदि धारण करनेकी उन्हें अपेक्षा नहीं है (भाव कि जन्मसे ही ऐसे शूरवीर हैं, शिक्षा वा अभ्यास आदिसे नहीं)।

टिप्पणी—१ (क) *'पुनि सिर पर प्रभु राम'* अर्थात् राम-ऐसे स्वामीको पाकर वे अत्यन्त शूरवीर हो गये हैं। यथा—*'छत्रिजाति रघुकुल जनम राम अनुग जग जान।'* (२। २२९) (ख) रावणने कहा था कि *'पुनि कहु भालु कीस कटकाई। कठिन''''।'* उसका उत्तर देते हैं कि वे कालकी प्रेरणासे नहीं किन्तु श्रीरामकी प्रेरणासे आये हैं। जो कोटिकालको भी जीत सकते हैं, वे राम उनके प्रभु हैं। और, रावणके *'की भइ भेंट कि फिरि गये''''* 'इन वचनोंका उत्तर दिया कि वे फिर जानेवाले नहीं हैं, उनके दलका एक-एक वानर एक-एक रावणको जीत सकता है, और राम तो कोटिकालको भी संग्राममें जीत सकते हैं तब तुम्हारा भय क्या? (ग) *'जीति सकहिं संग्राम'* का भाव कि काल योगाभ्यास एवम् ज्ञानसे भी जीता जा सकता है, यथा—*'तुम्हहिं न ब्यापत*

---

* ब्र० चं०—दोहरा दोहा मिश्रित।

काल अति कराल कारन कवन। मोहि सो कहहु कृपाल ज्ञान प्रभाव कि जोगबल॥' (७। ९४) उसका यहाँ निषेध करते हैं अर्थात् ज्ञान या योगबलसे नहीं किन्तु सम्मुख लड़कर जीत सकते हैं। क्योंकि *'काल कोटि सत सरिस अति दुस्तर दुर्ग दुरंत'* (७। ९१), ऐसा भी उन प्रभुको कहनेमें अत्यन्त लघुता होती है। यथा—*'निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगम कहै। जिमि कोटिसत खद्योत सम रबि कहत अति लघुता लहै॥'* (७। ९२) जब ऐसे प्रभावशाली पराक्रमी हैं तब तुम्हारा डर क्या? (घ) रावणने जो कहा था कि विभीषणका काल अति निकट आ गया, यथा—*'ताहि मृत्यु आई अति नेरी', 'होइहि जव कर कीट अभागी।'* (५३। ४-५) और वानरोंको काल घेर लाया उसपर कहते हैं कि उनके रक्षक ऐसे समर्थ श्रीरामचन्द्र हैं।

आवृत्तियोंद्वारा सिंहावलोकन

प्रथमावृत्ति

(किस वाक्यसे)	(क्या सूचित किया)
'पूछेहु नाथ राम कटकाई।''' बरनि न जाई'	१ इससे सेनाकी बहुतायत
'नाना बरन भालु कपि धारी'	२ सेनाकी विचित्रता
'बिकटानन बिसाल भयकारी	३ वानरोंकी आकृति
'द्विविद मयंद नील नल''' जामवंत'	४ प्रसिद्ध वीरोंके नाम
'अमित नाग बल बिपुल बिसाला'	५ वीरोंका बल
'परमक्रोध मीजहिं सब हाथा'	६ वानरोंका उत्साह
'पदुम अठारह जूथप बंदर'	७ यूथपतियोंकी संख्या
'सोखहिं सिंधु सहित झष ब्याला। पूरहिं''' ॥'	८ वानरोंका पराक्रम
'मर्दि गर्द मिलवहिं दससीसा'	९ वानरोंकी शूरवीरता
'गर्जहिं तर्जहिं सहज असंका'	१० वानरोंकी निश्शंकता
'पुनि सिरपर प्रभु राम'	११ वानरोंकी सनाथता

द्वितीयावृत्ति

प्रश्न		उत्तर
'कहसि न सुक आपनि कुसलाता'	१	*'रावनदूत हमहिं सुनि काना। कपिन्ह बाँधि दीन्हे दुख नाना॥'*
'पुनि कहु खबरि बिभीषन केरी॥'''	२	*'जातहि राम तिलक तेहि सारा'*
'पुनि कहु भालु कीस कटकाई'	३	*'पूछेउ नाथ राम कटकाई'* से *'सहज सूर'* तक
'जिन्ह के जीवन कर रखवारा। भएउ मृदुल चित सिंधु बिचारा॥'	४	*'सोषहिं सिंधु सहित झष ब्याला। पूरहिं नत भरि कुधर बिसाला॥'*
'कहु तपसिन्ह कै बात बहोरी'	५	*'राम तेज बल बुधि बिपुलाई। सेष सहस सत सकहिं न गाई। रामानुज दीन्ही यह पाती। नाथ बँचाइ जुड़ावहु छाती॥'*
'जासु मृत्यु आई अति नेरी' 'कठिन काल प्रेरित चलि आई' 'जिन्ह के हृदय त्रास अति मोरी'	६	*रावन काल कोटि कहँ जीति सकहिं संग्राम।* तब उनके भक्तोंकी मृत्यु कैसे होगी? वे निःशंक हैं।

राम तेज बल बुधि बिपुलाई। सेष सहस सत सकहिं न गाई॥ १॥
सक सर एक सोषि सत सागर। तव भ्रातहि पूँछेउ नयनागर॥ २॥
तासु बचन सुनि सागर पाहीं। मागत पंथ कृपा मन माहीं*॥ ३॥

---

* ब्र० च०—(१) (३) पायकुलक, 'सक....' ११७८ वाँ, 'तव' ११९६ वाँ भेद।

अर्थ—श्रीरामजीके तेज, बल और बुद्धिकी अधिकताको लाखों शेष भी नहीं कह सकते॥ १॥ वे एक बाणसे सैकड़ों समुद्र सोख सकते हैं, (ऐसे पराक्रमी हैं) परंतु नीतिमें चतुर हैं इससे तुम्हारे भाईसे उन्होंने उतरनेका उपाय पूछा॥ २॥ उसका वचन सुनकर वे सागरसे रास्ता माँगते हैं, उनके मनमें कृपा है॥ ३॥

श्रीलमगोड़ाजी—महाकाव्य और नाटकीय कलाके एकीकरणकी युक्ति देखी! इतनी देरतक कलामें नाटकीयता प्रधान रही और उसका आनन्द आया, फिर किस मजेसे *'सेष सहस सत सकहिं न गाई'* से बता दिया कि दूतोंने भगवान्‌को पूरी तरहसे महाकाव्यसम्बन्धी व्यक्तित्वमें पहचान लिया है और उनके *'मानुष तन'* धारण करनेसे धोखा नहीं खाया, आखिर ठहरे तो राक्षसपति रावणके दूत (महाकाव्यमें आधिदैविक विचारसे असुर और देवता भाई-भाई ही तो हैं, इसीसे असुरगण देवोंसे नीचे पर और सबोंसे ऊँचे गिने जाते हैं)।

नोट—१ तेज बल बुद्धि यथा—*'मरुत कोटि सत बिपुल बल रबि सतकोटि प्रकास'* (उ० ९१) से *'निरुपम न उपमा'''* (उ० ९२) तक। इसमें *'मरुत कोटि सत बिपुल बल'* बलकी, *'रबि सतकोटि प्रकास' 'धूमकेतु सतकोटि सम दुराधर्ष भगवंत'* तेजकी और *'सारद कोटि अमित चतुराई। बिधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई॥'* बुद्धिकी किंचित् उपमा देकर भुशुण्डीजीने कहा है कि ये उपमाएँ श्रीरामके बल, तेज आदिके सामने ऐसी लघु हैं—*'जिमि कोटि सत खद्योत सम रबि कहत अति लघुता लहै।'* यही भाव है *'बिपुलाई सेष सहस सत सकहिं न गाई।'* का जो कुछ भी कहा जाय वह किंचित् ही होगा। सूर्य,चन्द्र और अग्नि ये तीन तेजोमय कहे गये हैं। शतकोटि सूर्य, चन्द्र और अग्नि मिल जायँ तो भी श्रीरामके कणमात्र तेजकी बराबरी नहीं कर सकते। तेज यह है कि शत्रु उसे देखकर काँप उठे, आँख सामने न कर सके। मिलान कीजिये—*'राजन रामु अतुल बल जैसें। तेज निधान लषनु पुनि तैसें॥ कंपहिं भूप बिलोकत जाकें। जिमि गज हरि किसोर के ताकें॥'* (१। २९३) तेजकी व्याख्या भगवद्गुणदर्पणमें इस प्रकार है—**'स्वानधीनानपेक्षात्व-मन्योद्दीपनमित्यपि। आदित्यस्य प्रतापश्च सामन्ताग्निमदर्शनम्। परैरपरिभावत्वं दर्शनादेव दर्शितम्। दुःप्रेक्षत्वं तु येन स्यात्तत्तेजः समुदाहृतम्॥'** अर्थात् स्वतन्त्र रहनेकी तथा किसीकी अपेक्षा (परवा) न करनेकी भावना तथा दूसरोंको भी उद्दीप्त करनेकी शक्तिका नाम तेज है। सूर्यके समान प्रताप और अग्निके समान सब तरफसे अप्रधर्षत्व, देखनेमात्रहीसे दूसरा (शत्रु) प्रभावित हो जाय और यह सब होते हुए भी दुष्प्रेक्ष्यत्व न हो (सौम्यता हो), उसका नाम तेज है।

'बल'—कितना ही दुर्घट कार्य सामने आ जाय तो भी उसके करनेमें किंचित् श्रम न होना 'बल' है। जैसे अनेकों ब्रह्माण्डोंके धारण करनेमें विष्णुको कभी परिश्रम नहीं होता। यथा—**'यायाद्रामस्य गुर्व्यास्तु खेदाभावो बलं गुणः। श्रमो न जायते विष्णोर्ब्रह्माण्डानेकधारणे॥'**

'बुद्धि'—बुद्धिके आठ अङ्ग कहे गये हैं। यथा—**'बुद्ध्या ह्यष्टाङ्गया युक्तम्॥'** (वाल्मी० ४। ५४। २) वे अष्टाङ्ग ये हैं—**'शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा। ऊहापोहार्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः॥'** (वाल्मी० रा० शिरोमणि टीकासे उद्धृत) **शुश्रूषा**= गुरुकी सेवा। श्रवण=शास्त्रोपदेशको सुनकर समझना। ग्रहण=सारासार समझकर सारमात्रको लेना। धारण=ग्रहण किये हुए सारको स्मरण रखना। ऊह=तर्क-वितर्क करना। अपोह=युक्तिके बलसे संदेहका निराकरण करना। अर्थविज्ञान=अर्थका समझना। तत्त्वज्ञान=ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान। नैयायिकोंके मतसे प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रह और स्थान इन सोलह पदार्थोंके ज्ञानका नाम तत्त्वज्ञान है।

जिज्ञासापञ्चकमें जप, यज्ञ, तप, त्याग, आचार और अध्ययन बुद्धिके छः अङ्ग कहे गये हैं। यथा—**'जपो यज्ञास्तपस्त्याग आचारोऽध्ययनं तथा। बुद्धेश्चैव षडङ्गानि ज्ञातव्यानि मुमुक्षुभिः॥'**

टिप्पणी—१ *'राम तेज बल बुधि बिपुलाई'''* इति। (क) भाव कि जिनकी कृपादृष्टिसे वानरोंमें अतुलित बल है उनके बलको कौन कह सकता है। (ख) सहस शत शेष नहीं कह सकते। हनुमान्‌जीकी करनी एक शेष नहीं कह सकते, यथा—*'नाथ पवनसुत कीन्हि जो करनी। सहसहु मुख न जाइ सो बरनी॥'* (उ०। ५) श्रीरामजी उनके स्वामी हैं, स्वामीका बल अधिक होना ही चाहिये, इसीसे कहा कि रामजीके तेज-बल-

बुद्धिको लाखों शेष नहीं कह सकते। अथवा सेनाके वर्णनमें साधारण वदन कहा, यथा—*'पूछेहु नाथ राम कटकाई। बदन कोटि सत बरनि'''।'* और श्रीरामजीके तेज आदिको वर्णन करनेवाला कोई पण्डित होना चाहिये, अत: कहा कि *'शेष सहस सत'''* ' यह *'कहसि न रिपु दल तेज बल'* का उत्तर है।

टिप्पणी-२ *'सक सर एक सोषि सत सागर'''।'* इति। (क) विभीषणसे उपाय पूछा, इससे यह न समझो कि उनमें पराक्रम नहीं है और न वे नीति जानते हैं। ये नीतिमें प्रवीण हैं, यथा—*'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥'*(२। २५। ४) और बड़े पराक्रमी हैं। मन्त्रीसे पूछना नीति है, अत: *'नयनागर'* कहा। [पुन:, *'नयनागर'* का भाव कि आप ऐसे अनीतिमें निरत कि अपने भाईका भी अनादर किया और वे इस प्रकारके नीतिकुशल कि शत्रुके भाईको शरण देकर रक्षा भी की और प्रतिष्ठा देते हुए मन्त्र भी पूछा। (मा० त० सु०) विभीषणजीने कहा था कि आपका बाण *'कोटि सिंधु सोषक'* है और दूतोंने *'सोषि सत सागर'* कहा। दोनोंका भाव एक ही है, शत, सहस्र, कोटि आदि सब शब्द अनेकवाची हैं, अथवा विभीषण अधिक माहात्म्य जानते हैं इससे उन्होंने *'कोटि सिंधु सोषक'* कहा और दूत उतना माहात्म्य नहीं जानते, अत: उन्होंने *'सत सागर'* कहा।

टिप्पणी—३ तेज, बुद्धि और बलके उत्तर क्रमसे ये हैं—*'सक सर एक सोषि सत सागर', 'तव भ्रातहिं पूछेहु नयनागर'* और *'रावन काल कोटि कहँ जीति सकहिं संग्राम।'*

नोट—२ रावणने पूछा था—*'कहसि न रिपु दल तेज बल बहुत चकित चित तोर'* अतएव शुकने प्रथम *'पूछेहु नाथ राम कटकाई'* से *'रावन काल कोटि कहँ जीति सकहिं संग्राम'।* (५५) तक रिपुदल कहा। तब *'सक सर एक सोषि सत सागर'* यह तेज कहा। और *'सहज सूर कपि.....रावन काल कोटि कहँ जीति सकहिं संग्राम'* में ही बलका उत्तर आ गया कि जिनका बल पाकर वानर कोटि कालको जीत सकते हैं उनके बलको कौन कह सकता है? बुद्धिका प्रश्न तो रावणने किया ही नहीं तब इसने बुद्धिकी विपुलता क्यों कही? इससे जान पड़ता है कि वह विभीषणको शरण लेनेपर इतना मुग्ध हो गया है कि उससे रहा न गया, उसे इसमें श्रीरामकी नाति-निपुणता देख पड़ी, अत: उसने *'तव भ्रातहिं पूछेउ नयनागर'* कहकर उनकी बुद्धिकी बड़ाई की। अथवा बल पाँच प्रकारका कहा गया है। बाहुबल (यह साधारण बल है), सन्मन्त्रीका बल, अभिजात वा कौलिक बल (जो पिता, पितामहके समयसे सहज ही चला आता है) और बुद्धिबल। बुद्धिबल सबसे उत्कृष्ट बल है, यह बलका भी बल है, इससे और सब बल प्राप्त हो जाते हैं। यथा—'**बलं पञ्चविधं नित्यं पुरुषाणां निबोध मे। यत्तद्बाहुबलं नाम कनिष्ठं बलमुच्यते॥ अमात्यलाभो भद्रं ते द्वितीयं बलमुच्यते। धनलाभस्तृतीयं तु बलमाहुर्जिगीषव:॥ यत्त्वस्य सहजं राजन् पितृपैतामहं बलम्। अभिजातबलं नाम तच्चतुर्थं बलं स्मृतम्॥ येन त्वेतानि सर्वाणि संगृहीतानि भारत। यद्बलानामपि बलं तत्प्रज्ञाबलमुच्यते॥**' (महाभारत उद्योग पर्व)

वाल्मी० ४। ५४। २ में अङ्गदजीको '**चतुर्बलसमन्वितम्**' कहा है। चार बल कहनेका कारण सम्भवत: वहाँ यह हो कि 'बुद्धि'को उसमें साथ-ही-साथ अलग प्रथम ही कह दिया है। अथवा किसीके मतसे बल चार ही प्रकारका हो।

बुद्धिबल ही जिसके पास हो वही सर्वप्रकार बलवान् कहा गया है—'**बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्।**' प्रसिद्ध ही है। अतएव शुकने शरीरबल कहकर फिर 'बुद्धिबल' भी कहा। रावणने '**बल**' पूछा अत: दूतने इसे भी कहा, क्योंकि यही मुख्य बल है, यह जिसमें नहीं वह 'निर्बल' है।

टिप्पणी—४ *'तासु बचन सुनि'''* ' इति। (क) भाव कि तुम्हारे भाईसे उपाय पूछा और उनके बचन मानकर सागरके पास जाकर रास्ता माँगते हैं। तात्पर्य यह कि जिससे मन्त्र पूछे, यदि वह उचित कहे तो उसे मानना चाहिये। दूत इसी बातकी प्रथम ही प्रार्थना कर चुके हैं—*'नाथ कृपा करि पूँछेहु जैसें। मानेहु कहा क्रोध तजि तैसें।'(ख) 'कृपा मन माहीं'* अर्थात् मनमें कृपा है; इसीसे पंथ माँगते हैं, नहीं तो सोख लेते। समुद्रपर कृपा है उसे न सोखा, विभीषणपर कृपा है इससे उनका मान रखा, यद्यपि समर्थ

हैं। [भाव कि समुद्र आपका पक्षपाती है तो भी वे किसीकी मर्यादाको भङ्ग करनेकी बात अपने मनमें तनिक भी नहीं लाते क्योंकि मर्यादापुरुषोत्तम हैं। (मा० त० सु०)]

सुनत बचन बिहँसा दससीसा । जौं असि मति सहाय कृत कीसा॥ ४॥
सहज भीरु कर बचन दिढ़ाई*। सागर सन ठानी मचलाई†॥ ५॥

अर्थ—दूतके वचन सुनते ही रावण खूब हँसा (और बोला) जब ऐसी बुद्धि है तभी तो वानरोंको सहायक बनाया॥ ४॥ स्वाभाविक ही डरपोक विभीषणके वचनको दृढ़कर सागरसे मचल रहे हैं (हठ ठाना है। राह न देगा तो डूब मरेंगे। अथवा इससे हठ ठानी कि कोई हँसे नहीं, कह देंगे कि राह न मिली तो हम क्या करते। मचलनेसे बालबुद्धि जनायी)॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'सुनत बचन बिहँसा'''* ' इति। जबतक *'माँगत पंथ कृपा मन माहीं'* नहीं कहा था तबतक कोई छिद्र न मिला था, ये वचन सुनकर उसे बोलनेके लिये छिद्र मिला और वह ठट्टा मारकर हँसा कि मैं जान गया कि उनमें कुछ बुद्धि नहीं है। समुद्रसे मचलना ठाना इससे जान गया कि बल कुछ नहीं। अथवा वानरोंको सहायक बनाया इससे उनके बलकी थाह मिली और विभीषणको मन्त्री बनाया इससे उनकी बुद्धिकी थाह मिली। हँसकर दूतके वचनोंका निरादर किया।

टिप्पणी—२-*'सहज भीरु कर बचन दिढ़ाई।'''* ' इति। (क) रावणने विभीषणका उपदेश नहीं माना था और रामजीने उनकी सलाह मानी; इससे वह कहता है कि डरपोकके वचनको उन्होंने दृढ़ किया। (ख)—*'भीरु'* का भाव कि नीति है कि डरपोकको मन्त्री न करे और उन्होंने डरपोकको मन्त्री बनाया। — [ऐसा ही अङ्गदसे कहा है-*'अनुज हमार भीरु अति सोऊ॥'* (६। २३। ३)]

श्रीराजारामशरण लमगोड़ाजी—धन्य है नाटकीय चरित्र संघर्षकला (Conflict of characters)! रावणको कैसा सुन्दर मौका बढ़बत्ती रोकनेका और मजाक उड़ानेका मिल गया? हास्यकला निछावर है कि मौका हाथसे नहीं जाने दिया और *'सागर सन ठानी मचलाई'* की व्यङ्गपूर्ण आलोचना करके बाजी मारता ही जान पड़ता है।

☞ तुलसीदासजीकी शैली ही है कि अनेक दृष्टिकोणके विचार किसी भी प्रसङ्गपर अनेक प्रकारसे किसी-न-किसी द्वारा प्रकट करा ही देते हैं। समुद्रसे मार्ग माँगनेपर विभीषण, लक्ष्मण, रावणदूत, रावण और समुद्रके विचार देखिये और कलाका आनन्द लीजिये, पर सब विचारोंको कविके मत्थे कभी न मढ़िये। 'जितने मुँह उतनी बातें' वाली जनश्रुति बड़ी मार्मिक है।

मूढ़ मृषा का करसि बड़ाई। रिपु बल बुद्धि थाह मइँ पाई॥ ६॥
सचिव सभीत बिभीषन जाके। बिजय बिभूति कहाँ जग‡ ताके॥ ७॥

अर्थ—अरे मूर्ख! झूठ क्या बड़ाई करता है। मैंने शत्रुके बल और बुद्धिकी थाह पा ली॥ ६॥ जिसके विभीषणकी तरह डरपोक मन्त्री है, उसको संसारमें विजय और विभूति (वैभव ऐश्वर्य) कहाँ?॥ ७॥

टिप्पणी—१ *'मूढ़ मृषा का करसि'''* ' इति। (क) जिसको कुछ भी बल-बुद्धि नहीं उसको बलका समुद्र (बलराशि) समझा और मैं जो बल-बुद्धिका समुद्र हूँ सो मुझको कुछ न समझा। इससे निश्चय हुआ कि तू *'मूढ़'* है। तुझमें बुद्धि होती तो तुझे यथार्थ समझ पड़ता। तुमने झूठे ही बड़ाई की। बल-बुद्धि होती तो समुद्र सोख लेते, डरपोकके वचनको दृढ़ न करते। ऐसा करनेसे जाना गया कि वे भी डरपोक हैं, शूर नहीं हैं। (ख) *'थाह मैं पाई'* का भाव कि तू रिपुके बल-बुद्धिको अथाह कहता था और मैंने उसकी थाह पा ली—*'जौं असि मति'''* ' से बलकी और *'सचिव सभीत बिभीषन'''* ' से थाह मिली (रावणके हृदयमें असूया और सर्वसंचारी भाव हैं)।

---

* दृढ़ाई—(का० ना० प्र०)। † 'सुनत...' चण्डी, 'जो....' (५) पायकुलक।
‡ 'लगि'—(का०, ना० प्र० ब्र।)० चं०—'मूढ़...' अनुकूल, 'रिपु....' पायकुलक, (७) तामरस।

टिप्पणी—२-*'सचिव सभीत बिभीषन जाके'''।'* इति। (क) तात्पर्य कि सभीत मन्त्री संग्रामसे भागता है (भागनेकी सलाह देता है) तब विजय कैसे हो सकती है? और शत्रु सब विभूति ले लेता है, अतः कहा कि विभूति कहाँ है। (ख) विभीषण डरपोक है, उसके इतनी ही बुद्धि है। जब हमारे यहाँ था तब हमसे कहा था कि शत्रुसे विनती करो, जब वहाँ गया तो उनसे कहा कि तुम समुद्रसे विनती करो। इसी कारण तो हमने उसे निकाल दिया पर उन्होंने रख लिया और मंत्री बनाया। (ग) राजाको विजय और विभूति अच्छी सेनासे और अच्छे मन्त्रीसे मिलती है, उनकी न सेना अच्छी न मन्त्री अच्छे। दूतने कहा कि *'तव भ्रातहि पूछेउ'''* इसीसे रावण उनको मन्त्री कहता है।

सुनि खल बचन दूत रिस बाढ़ी। समय बिचारि पत्रिका काढ़ी॥ ८॥
रामानुज दीन्ही यह पाती। नाथ बँचाइ जुड़ावहु छाती॥ ९॥
बिहँसि बाम कर लीन्ही रावन। सचिव बोलि सठ लाग बचावन*॥ १०॥

अर्थ—दुष्ट रावणके वचन सुनकर दूतके क्रोध बढ़ आया। उसने अवसर समझकर पत्रिका निकाली (और बोला—)॥ ८॥ रामके छोटे भाईने यह पत्रिका दी है। हे नाथ! इसे पढ़कर छाती ठंडी कीजिये॥ ९॥ हँसकर रावणने उसे बायें हाथसे लिया और मन्त्रीको बुलाकर वह शठ उसे पढ़वाने लगा॥ १०॥

श्रीलमगोड़ाजी—हास्यरस सम्बन्धी विचार कुछ ऊपरकी टिप्पणीमें आ ही गये। हाँ, एक बात याद रहे कि फिर हँसीसे निरहस ही हुआ और जिसे मैंने *'माप'* कहा था वह *'रिस'* हो गयी और अधिक *'बाढ़ी भी।'* नाटकीय कलाके विचारसे तो बड़े मौकेसे पत्रिका निकालना और जोरसे बोलकर रिसकी प्रगतिके साथ रावणके हाथमें देना कविके कौशलका प्रमाण ही है। पर *'नाथ'* का शब्द न भूले और अभिनेता जामेसे बाहर न हो, इस संकेतपर तो कला निछावर है।

टिप्पणी—१ (क) *'रिस बाढ़ी'* से जनाया कि जब रावणने अनादरसे हँसकर प्रश्न किया था तभी दूतको क्रोध आ गया था, अब वह क्रोध बढ़ा। यथा—*'जब तेहि कीन्ह राम कै निंदा। क्रोधवंत अति भयउ कपिंदा॥'* (६। ३१। १) श्रीरामके निन्दकको तलवार निकालकर मारे। रावणने निन्दा की, इसीलिये खड्गके समान पत्रिका निकाली। तलवार म्यानसे बाहर निकाली जाती है और पत्रिका लिफाफेसे बाहर निकाली गयी। जैसे तलवार अङ्ग विदीर्ण करती है, वैसे ही पत्रिका इसके हृदयको विदीर्ण करेगी, यथा—*'सुनत सभय मन मुख मुसुकाई। कहत दसानन सबहि सुनाई॥'* (ख) *'समय बिचारि'* अर्थात् वधका समय है। प्रसङ्गके अनुकूल यह समय है कि रावणने दूतके सब वचनोंको काट डाला, अब पत्रिका देनेका समय है। [दूतने विचारा कि यदि मैं इसकी बातोंका खण्डन करूँगा तो अवश्य यह मुझपर बहुत क्रोध करेगा। अतः इसके मानकी ध्वंसिनी पत्रिका ही ठीक है जिससे इसका मान भंजन होगा। (मा० त० सु०) इस वाक्यमें ध्वनि यह है कि जो आप पूछते हैं कि भेंट हुई या फिर गये, सो इस पत्रिकासे समझ लीजिये कि क्या वे लौटनेवाले हैं!

टिप्पणी—२-*'रामानुज दीन्ही यह पाती'''* इति। (क) रावणने दोनों भाइयोंकी बात पूछी थी, यथा—*'कहु तपसिन्ह कै बात बहोरी।'* इनमेंसे रामजीकी बात तो कह चुका, अब लक्ष्मणजीकी बात कहता है। (ख) लक्ष्मणजीने दूतोंसे कहा था कि रावणसे कहना कि यह लक्ष्मणजीकी पत्रिका है, यथा—*'रावन कर दीजहु यह पाती। लछिमन बचन बाँचु कुल घाती॥'* (५२। ८) इसीसे दूतने कहा कि *'रामानुज दीन्ही'''* (ग) श्रीलक्ष्मणजीने अपना नाम बतानेको क्यों कहा? इसलिये कि पहले ही न बता दिया जायगा तो वह उसे श्रीरामजीकी पत्रिका समझकर अपमान करेगा जिससे रामजीमें न्यूनता आवेगी। (घ) लक्ष्मणजीने कहा था कि उससे कहना कि *'लछिमन बचन बाँचु कुलघाती'* पर दूत कहते हैं कि *'बँचाइ जुड़ावहु छाती।'* ऐसा कहनेका कारण यह था कि दूतने रावणकी खलता देखकर जान लिया कि यह ठीक-ठीक

* (८) (९) पायकुलक, 'बिहँसि...' ११६० वाँ, 'सचिव....' ११६० वाँ भेद।

न 'बाँचेगा' और दूसरेसे पढ़ावेगा तो वह जो कुछ लिखा है, वही पढ़ेगा। अतएव पढ़ानेको कहा। [नोट—दूसरेसे पढ़वानेसे सभा भर जान जायगी, रावण स्वयं पढ़ लेता तो दूसरोंको न मालूम होता और न रावण लज्जित होता। दूसरे रावणके मन्त्रियोंने कहा था कि *'नर बानर केहि लेखे माहीं'* अतः वे भी पढ़-सुनकर लज्जित होंगे] यह तो अन्तःकरणका अभिप्राय हुआ और ऊपरसे यह दिखाया कि शत्रुकी पत्रिका है, अतएव आप न पढ़ें, मन्त्रीको बुलाकर पढ़वा लें। (ङ) *'जुड़ावहु छाती'* यह व्यङ्ग है, उसे सुनकर उसकी छाती जलेगी न कि ठंडी होगी। यथा—*'सुनत सभय मन'''।'* पुनः *'जुड़ावहु'* का भाव कि मेरी बात झूठी समझकर क्रोधाग्नि तेज होती है, छाती जलती है, तो इस पत्रिकाको बाँचकर मेरे वचनको सत्य मानकर छाती ठंडी कर लीजिये।

टिप्पणी—३-*'बिहँसि बाम कर''''* इति। हँसना निरादरार्थ है, बायें हाथसे लेना भी निरादर है। अथवा बाम (शत्रु) की पत्रिका है इससे बायें हाथमें ली। पत्रिकाकी बात न मानेगा। अतः शठ कहा। (*'सचिव बोलि'* से ज्ञात होता है कि शुकसे यहाँतक एकान्तमें बातें हुईं, अब मन्त्री बुलाये गये)।

दो०—बातन्ह मनहि रिझाइ सठ जनि घालसि कुल खीस।
राम बिरोध न उबरसि सरन बिष्नु अज ईस*॥
की तजि मान अनुज इव प्रभु पद पंकज भृंग।
होहि कि राम सरानल खल कुल सहित पतंग†॥५६॥

शब्दार्थ—खीस=नष्ट, बरबाद, नाश। घालना= कर डालना। यथा—*'केहि के बल घालेहि बन खीसा'* *'सो भुजबल राख्यो उर घाली।'*

अर्थ—अरे शठ! मात्र बातोंसे मनको रिझाकर (प्रसन्न करके) अपने कुलका नाश न कर। रामविरोधसे ब्रह्मा-विष्णु-महेशकी शरण जानेपर भी न बचेगा। या तो अभिमान छोड़कर अपने छोटे भाईकी तरह प्रभुके चरणकमलका भौंरा बन और चाहे (अर्थात् नहीं तो) अरे खल! श्रीरामजीके बाणरूपी अग्निमें कुलसहित पतंगा हो अर्थात् शरण न आनेसे कुलका नाश होगा। (अब दोनोंमेंसे जो रुचे सो कर)॥ ५६॥

टिप्पणी—१ (क) मन, वचन और कर्म तीन ही होते हैं। तीनोंके विषयमें कहते हैं कि तू बातोंसे और मनसे वीर बना बैठा है पर युद्धमें तेरे किये कुछ न होगा, तू न बचेगा। [बातें यह कि ब्रह्मा-शिवसे वर पा चुका हूँ, कैलास उठा लिया, समग्र देवता, दिक्पाल आदि मेरे नौकर हैं, नर-वानर मेरा क्या कर सकते हैं। एवं कुमन्त्रियोंकी ठकुरसुहातीके वचन। इत्यादि] (ख) *'जनि घालसि कुल खीस'* इति। भाव कि पुलस्त्य ऋषिका उत्तम कुल है, ऐसे कुलके नाशमें खेद होता है; इसीसे कुलके नाशका निषेध करते हैं। (ग) *'रामबिरोध न'''ईस'* यथा—*'संकर सहस बिष्नु अज तोही। सकहिं न राखि राम कर द्रोही॥'* (२३। ८), **'ब्रह्मा स्वयंभूश्चतुराननो वा रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा। इन्द्रो महेन्द्रः सुरनायको वा त्रातुं न शक्ता युधि रामवध्यम्॥'**(वाल्मी० ५। ५१। ४४) विष्णुका रक्षण-धर्म मुख्य है अतः यहाँ दोहेमें उन्हें प्रथम कहा। अथवा एक-एक बार सबको प्रथम कहा—(ऐसा करके तीनोंको एक-समान प्रधान जनाया), यथा—*'संकर सहस बिष्नु अज तोही। ब्रह्म रुद्र सक राखि न तोही॥'* (६। २७) तथा यहाँ *'सरन बिष्नु अज ईस।'*

टिप्पणी—२-*'पदपंकज भृंग'* अर्थात् प्रभुके चरण कमलरूप हैं, तापके हरनेवाले हैं, उनका रसिक होकर सुखरूपी मकरन्द पान कर। चाहे भ्रमरकी जोड़में पतङ्ग होकर शरानलमें जल, तापको प्राप्त हो, दुःख भोगकर।—यह पत्रिकामें लिखा है।

श्रीलमगोड़ाजी—ये दोनों दोहे पत्रिकाके अन्तिम अंश अर्थात् टीपके बंद ही हैं और सम्भवतः ज्यों-के-त्यों दिये गये हैं। हैं भी बड़े जोरके। विस्तार-भयसे व्याख्या नहीं की जाती। जिसे वाग्विलासका अन्त समझना चाहिये वे पद हैं अवश्य ऐसे कि वाणी निछावर हो।

---

* ब्र० चं०—दोहा दोहरा मिश्रित, दोहरा। † दोहरा—(ब्र० चं०) ब्र० चं०—तामरस

नोट—मात्राकी कमीके विचारसे इस दोहेका पाठ आजकलके संशोधक पण्डितोंने *'की तजि मान'* के बदले *'होउ मान तजि'* और *'होहि कि रामसरानल खल'* की जगह *'रामसर अनल खल जनि'* कर दिया है! पर प्राचीन पाठ वही है जो ऊपर दिया गया। प्राचीन दोहेकी शुद्धताके विषयमें श्रुतबोधका प्रमाण है—**'संयुक्ताद्यं दीर्घं सानुस्वारं विसर्गसंमिश्रम्। विज्ञेयमक्षरं गुरु पादान्तस्थं विकल्पेन॥'** इसके अनुसार पदके अन्तका अक्षर (लघु) विकल्पसे गुरु माना जाता है। इस प्रकार मात्राकी पूर्ति हो जाती है। श्रीलमगोड़ाजी कहते हैं कि मुझे तो विरोधालंकारके और उभारनेके लिये नाटकीय कलाके शब्दगुणके विचारसे यह अधिक ठीक जान पड़ता है कि प्रारम्भका *'की'* ही इतना बढ़ाकर बोला जाय कि मात्राकी कमी पूरी हो जाय।

सुनत सभय मन मुख मुसुकाई। कहत दसानन सबहि सुनाई॥ १॥

भूमि परा कर गहत अकासा। लघु तापस कर बाग बिलासा॥ २॥

अर्थ—सुनकर (रावण) मनमें डरा पर (डर छिपानेके लिये) मुखसे हँसकर और सबको सुनाकर रावण कहता है॥ १॥ जैसे कोई पृथ्वीपर पड़ा हुआ हाथसे आकाशको पकड़ना चाहे वैसे ही इस छोटे तपस्वीकी वाणीका विलास (वचनचातुरी, मनोरंजक वाक्यमात्र) है॥ २॥

टिप्पणी—१(क) *'सुनत सभय मन·····'* इति। पत्रिका सुनकर मन सहम गया, मुखपर उदासी आ गयी। मुखपर उदासी आनेसे हृदयका भय खुल जाता, इसीसे उनकी लघुता सबसे सुनाकर कहता है। पहले मनका भय मुखसे हँसकर छिपाया फिर उसीको वचनद्वारा छिपाया। मुसुकाना थोड़े ही लोगोंने देखा जो पास थे और वचनसे सब लोग जानेंगे कि इसको भय नहीं है। अतः सबको सुनानेके लिये वचन कहे। (ख) *'दसानन'* से जनाया कि दसों मुखोंसे बोला, यथा—*'दसमुख बोलि उठा अकुलाना।'* (६। ५। १०) जहाँ-जहाँ भयसे घबड़ाकर बोला, वहाँ-वहाँ ऐसा ही लिखा है। (ग) इस प्रसङ्गमें चार बार हँसना लिखा गया। *'बिहँसि दसानन पूछी बाता। सुनत बचन बिहँसा दससीसा॥'*, *'बिहँसि बाम कर लीन्हीं रावन'* और *'सुनत सभय मन मुखु मुसुकाई॥'*

श्रीलमगोड़ाजी—कवि सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म अन्तरको जान लेता है और प्रकट कर देता है। इसीसे तो क्रान्तदर्शी और सूक्ष्मदर्शी कहा जाता है। हँसी और शब्दोंसे दूत धोखा खा गया और क्रोध समझा; पर कवि स्पष्ट कहता है कि *'सभय मन'* है। अंग्रेजीमें जो कहावत है कि 'Abully is a Coward turnedinside out' उसे हमारे मित्र यहाँ प्रमाणित बनावेंगे।

टिप्पणी—२ *'भूमि परा कर गहत अकासा·····।'* इति। अर्थात् हमको चिट्ठीद्वारा भय दिखाकर जीतना चाहता है। कोई बैठकर या खड़े होकर तो आकाशको पकड़ ही नहीं सकता, पृथ्वीपर पड़ा हुआ भला कैसे पकड़ सकता है? वैसे ही यह तपस्वी हमें किसी तरह जीत तो सकते ही नहीं, बातोंसे जीतना चाहते हैं। राजा भी होते तो कुछ बल समझा जाता, अब तो ये राजभ्रष्ट और बलहीन हैं, कर ही क्या सकते हैं? [धरतीपर पड़ा हुआ जिसको अपनेसे उठकर बैठनेका भी सामर्थ्य नहीं वह भला आकाशको क्या पकड़ेगा। भाव यह कि स्वयं तो राज्यसे निकाल दिया गया, वनोंमें भटकता फिरता है, सामर्थ्य होता तो बापके दिये हुए राज्यपर बैठ जाता। दूसरोंको राज्य देता फिरता है और मुझ त्रैलोक्यविजयी रावणको सामनीति बरतनेको कहता है। बढ़-बढ़कर बातें मारता है।] श्रीलक्ष्मणजीने लिखा कि *'बातन्ह मनहि रिझाइ सठ'* इसीसे उत्तरमें रावण कहता है कि *'लघु तापस कर बाग बिलासा।'*

प० पु० प्र०—*'भूमि परा'* में भाव यह है कि सार्वभौम राजसत्ताको खो बैठे, क्षत्रियत्व छोड़कर तपस्वी बने। अब पूर्वका वीर्य-शौर्य पुरुषार्थ तो कुछ रह ही न गया, **'वाचि वीर्यं द्विजानां'** बता रहे हैं।

कह सुक नाथ सत्य सब बानी। समझहु छाड़ि प्रकृति अभिमानी॥ ३॥

सुनहु बचन मम परिहरि क्रोधा। नाथ राम सन तजहु बिरोधा॥ ४॥

अर्थ—शुकने कहा कि 'हे नाथ! अभिमानी प्रकृति (स्वभाव) को छोड़कर सब वाणीको

सत्य समझिये॥ ३॥ हे नाथ! क्रोध छोड़कर मेरा वचन सुनिये। हे नाथ! श्रीरामजीसे वैर छोड़िये॥ ४॥

टिप्पणी—१(क) लक्ष्मणजीकी वाणीको उसने वाग्विलास कहा अर्थात् यह सब झूठ है। उसीपर दूत कहता है कि यह वाग्विलास नहीं है, वरन् सत्य है। रामसे विरोध करके सत्य ही तुम बच नहीं सकते, रामशरानलमें सत्य ही तुम्हारा कुल भर जल मरेगा-यह जो कुछ चिट्ठीमें लिखा है सब सत्य है। *'सत्य सब बानी'* से जनाया कि जैसा पत्रिकामें लिखा था वैसा ही सब शुकने भी कहा। (ख)-अभिमानी अपने आगे किसीको भी कुछ नहीं समझते। और न किसीकी मानते हैं। यथा—*'अस कहि चला महा अभिमानी। तृनसमान सुग्रीवहि जानी॥'*(४। ८। १), *'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना॥'*(४। ९। ९) इसीसे समझनेको और अभिमान छोड़नेको कहा। *'समुझहु'* से जनाया कि वाणी गम्भीर है, समझनेके योग्य है, अभिप्राययुक्त है, समझनेसे ही समझ पड़ेगी; तुम्हें अभिमानके मारे समझ नहीं पड़ती, अभिमान छोड़कर समझनेसे समझ पड़ेगी।

अति कोमल रघुबीर सुभाऊ। जद्यपि अखिल लोक कर राऊ॥ ५॥
मिलत कृपा तुम्ह पर प्रभु करिही*। उर अपराध न एकौ धरिही॥ ६॥
जनकसुता रघुनाथहि दीजे†। एतना कहा मोर प्रभु कीजे‡॥ ७॥

अर्थ—श्रीरघुवीरका स्वभाव अत्यन्त कोमल है यद्यपि वे समस्त लोकोंके राजा हैं॥ ५॥ मिलते ही प्रभु आपपर कृपा करेंगे और हृदयमें एक भी अपराध न धारण करेंगे॥ ६॥ श्रीरघुनाथजीको जनकसुता दे दीजिये। हे प्रभो! इतना कहना मेरा कीजिये। अर्थात् और चाहे कुछ न मानिये पर इतना अवश्य मानिये, चाहे आपकी इच्छा भी न हो॥ ७॥

टिप्पणी—१ (क) श्रीरघुवीरके स्वभावमें दूतोंका प्रेम है, क्योंकि वह स्वभाव उनके हृदयमें पैठ गया है। यथा—*'प्रकट बखानहिं राम सुभाऊ। अति सप्रेम गा बिसरि दुराऊ॥'* (५२। १) इसीसे रावणसे भी उन्होंने स्वभाव कहा। (ख) कोमलता आँखों देखी और कानों सुनी है, यथा—*'जो नर होहि चराचर द्रोही'* इत्यादि। (ग) *'जद्यपि अखिल लोक कर राऊ'* का भाव कि थोड़ा-सा भी राज्य पाकर राजाओंका स्वभाव कठोर हो जाता है और ये अखिल लोकोंके राजा हैं तो भी इनका कोमल स्वभाव है, शुद्ध सात्त्विक स्वभाव है, रजोगुण वा तमोगुणी नहीं है।

टिप्पणी—२ *'मिलत कृपा तुम्ह पर प्रभु……'* इति। (क) राजस वा तामस वृत्तिवाले राजाओंका अपराध करके फिर उनसे मिलो तो वे क्रोध करते हैं, पर रघुवीरका स्वभाव ऐसा नहीं है, वे मिलते ही कृपा करेंगे और अपराध समझकर कभी त्याग न करेंगे—ऐसा अत्यन्त कोमल स्वभाव है। श्रीरामजीके मुखसे सुना कि *'कोटि बिप्र बध लागहि जाहू……।'* वही उसने यहाँ रावणसे कहा। (ख) *'अपराध न एकौ'* का भाव कि तुमने बहुत अपराध किये हैं। जैसे कि सीताहरण, जटायुवध, हनुमान्‌जीकी पूँछ जलाना, विभीषणको लात मारना, भूतद्रोह, देवमुनियोंसे द्रोह, इत्यादि। तुम्हारा छोटा भाई मिला, उसे लङ्काका राज्य दिया। तुम बड़े हो, मिलोगे तो तुमपर भी कृपा करेंगे। कृपाका फल न जाने क्या दे दें। अपराध क्षमा करेंगे और कृपा करेंगे इन वचनोंसे भयकी निवृत्ति करता है।

टिप्पणी—३ (क) *'जनकसुता रघुनाथहिं दीजे'* इति। *'मोरे कहे जानकी दीजे।'*(२२। १०) में देखिये। (ख)*'सीता देइ मिलहु'* यह लक्ष्मण संदेश है; पर दूतने लक्ष्मण-संदेश उनकी ओरसे न कहकर उसे अपनी ओरसे कहा—*'एतना कहा मोर प्रभु कीजे।'* ऐसा क्यों किया? क्योंकि वह जानता है कि लक्ष्मणजीकी ओरसे कहनेसे रावण उन्हें गाली देगा, जो हमको न सुननी चाहिये, यथा—'हरि *हर निंदा सुनहिं जे काना। होइ पाप गोघात समाना॥* 'अपनी ओरसे कहनेमें हमें जो चाहे सो करे। अपनी ओरसे कहा तब *'चरन*

---

* करिहौं, धरिहौं (क०, ना० प्र०)। † दीजै, कीजै—(ना०प्र०)।

‡ 'कह……नयमालिनी। 'जनकसुता……' तामरस। शेष पायकुलक।

प्रहार कीन्ह सठ तेही।' यहाँ शुक भूला यदि वह लक्ष्मणजीका संदेश कहता तो न मारा जाता। अपनी ओरसे कहा इससे मारा गया। जैसे विभीषणजीने जब पुलस्त्यका संदेश कहा कि वैदेही दे दो तब रावणने न मारा और जब अपनी ओरसे कहा तब मारे गये। (ग) मेरा कहा करो। ऐसा कहनेसे अभिमानीका मान रह जाता है। इसीसे सब लोगोंने ऐसा ही कहा—***'मोरे कहे जानकी दीजे'*** (श्रीहनुमान्‌जी), ***'तात चरन गहि माँगौं राखहु मोर दुलार'*** (श्रीविभीषणजी), तथा यहाँ। इत्यादि।

श्रीलमगोड़ाजी—भगवान्‌की कोमलताका विचार करते ही दूतकी वाणी और विचार दोनोंमें कोमलता आ गयी। अब वह अपील करता है और अपनी तरफसे केवल लक्ष्मणजीके संदेशको दोहराता नहीं है।

प० प० प्र०—लक्ष्मणजीने जो मौखिक संदेश कहनेको कहा था वह उसने नहीं कहा; पर अपनी विनयके ढंगपर उसका सार सुना दिया। इसमें मुख्य हेतु यह है कि अब शुक रावणका तथा लङ्काका त्याग करना चाहता है। वह जानता है कि दूतका स्वामीको उपदेश करना अनधिकार चेष्टा है, अपराध है। रावण दण्ड दिये बिना न रहेगा। जिसने भाईको पदप्रहार करके निर्वासित किया वह क्या अपराधी दूतको क्षमा करेगा? कदापि नहीं। अतः शुकने जान-बूझकर ही यह अपराध किया।

जब तेहिं कहा देन बैदेही। चरन प्रहार कीन्ह सठ तेही॥ ८॥
नाइ चरन सिरु चला सो तहाँ। कृपासिंधु रघुनायक जहाँ*॥ ९॥

अर्थ—जब उसने वैदेहीको देनेके लिये कहा तब उस शठने उसे लात मारी॥ ८॥ वह चरणोंमें सिर नवाकर वहींको चला जहाँ दयासागर श्रीरघुनाथजी (सिंधुतटपर बैठे) हैं॥ ९॥

टिप्पणी—१ (क) जबतक रामजीकी बड़ाई की, रावणकी न्यूनता दिखायी और कठोर वचन बोला—***'अस कपि एक न सेना माहीं। जो न तुम्हहिं जीतै रन माहीं'***—तबतक क्रोध न किया; क्योंकि दूतने बारंबार विनय की है कि वचन सुनकर क्रोध न कीजियेगा। सबके पीछे वैदेहीजीको देनेकी बात कही; क्योंकि यदि प्रथम कहता तो प्रथम ही मार खाता, श्रीरामजीकी बड़ाई और कृपालु कोमल स्वभाव कहनेको रह जाता। [दूसरे अभीतक उसने जितना दूतका अधिकार था उतना ही कहा। आगे बिना पूछे उपदेश देने लगा तब रावण न सह सका। पूर्व ५१ (८) में लिखा जा चुका है कि (वाल्मी० रा० में) रावणने कहा है कि तुम मन्त्री होने योग्य नहीं हो। तुम वध करने योग्य हो पर तुम्हारे पूर्वकृत उपकारोंसे मैं तुम्हें छोड़े देता हूँ। हमारे सामनेसे दूर हो, अब मुँह न दिखाना। ***'चरन प्रहार'*** वाल्मी० और अ० रा० में नहीं है।]

टिप्पणी—२ वक्ता उसे ***'शठ'*** विशेषण देते हैं क्योंकि शठसे विनय करना व्यर्थ ही होता है—***'सठ सन बिनय…'।*** यह शठ है इसने विनती न मानी, उलटे चरणका प्रहार किया।

टिप्पणी—३ ***'नाइ चरन सिरु…'*** इति। (क) [***'चला सो'*** से जनाया कि यद्यपि दूत तो सारण, शार्दूल आदि और भी इसके साथ भेजे गये थे पर डाँट-फटकार इसीको हुई, कारण कि यही सबका नेता था। रावणने सब इसीसे पूछा और इसीने उत्तर दिया और सब यद्यपि साथ आये थे, यथा ***'रावन चरन सीस तिन्ह नाये',*** तथापि वे सब अलग चुप खड़े रहे। रावणने शुकको ही नेता बनाकर भेजा था, क्योंकि ऐसा पूर्वसे ही विधान विधाताने रच दिया था। अगस्त्यजीने शापानुग्रह करते हुए यही कहा था कि रावण तुमको दूत बनाकर भेजेगा तब तुम रामदर्शन पाकर शापसे मुक्त हो जाओगे, फिर रावणको तत्त्वज्ञानका उपदेश करोगे, तब तुम पुनः पूर्व मुनिशरीर प्राप्त करोगे। इसीसे शुक ही उपदेश करनेपर निकाला गया और रामदर्शन पाकर पूर्व मुनिशरीर उसने प्राप्त किया। डरके मारे दलमें न गया कि कहीं फिर न बाँधकर मारें। (ख) शुकने आदिसे अन्ततक अपना धर्म निबाहा था। आदि और अन्त दोनोंमें प्रणाम किया, यथा—***'कहत रामजस लंका आये। रावन चरन सीस तिन्ह नाये'*** और ***'नाइ चरन सिरु'।*** जैसे श्रीविभीषणजीने किया था। यथा—***'अवसर जानि बिभीषन आवा। भ्राता चरन सीस तेहि नावा'*** और ***'अनुज गहे पद बारहि बारा।'*** (ग) चरणोंमें सिर नवाकर चला कि आपने बड़ी

* 'चरन…' नयमालिनी, ९ में २८७, ३१५ वें भेद।

कृपा की कि लात मारकर विषयोंसे छुड़ा रामसम्मुख कर दिया। (घ) *'कृपासिंधु'* विशेषण देकर जनाया कि इसपर श्रीरामजी कृपा करेंगे।

श्रीलमगोड़ाजी—नाटकीय कलामें विरोधी प्रगतियोंके संकेत बड़े उत्तम हैं; विशेषकर दूतवाली, कारण कि यदि वैसी प्रगतियोंके संकेत न होते तो सम्भव था कि अभिनेता गलती कर जाता। जो अपीलकी भावना और भगवान् रामकी सहनशीलता (कोमलता) के प्रभावोंके विरुद्ध *'रिस'* का ही रूप लिये रहतीं।

करि प्रनामु निज कथा सुनाई। रामकृपा आपनि गति पाई॥ १०॥
रिषि अगस्ति की* साप भवानी। राछस भएउ रहा मुनि ग्यानी॥ ११॥
बंदि राम पद बारहि बारा। मुनि आश्रम कहुँ† पगु धारा‡॥ १२॥

अर्थ—उसने प्रणाम करके अपनी कथा सुनायी और श्रीरामजीकी कृपासे अपनी गति पायी। अर्थात् अपने पूर्व मुनि स्वरूपको प्राप्त हुआ॥ १०॥ हे भवानी! यह ज्ञानी मुनि था। अगस्त्य ऋषिके शापसे राक्षस हो गया था॥ ११॥ बारम्बार श्रीरामजीके चरणोंकी वन्दना करके वह मुनि अपने आश्रमको चला गया॥ १२॥

टिप्पणी—१ *'निज कथा'* यह कि मैं रावणका दूत हूँ। विभीषणके पीछे रावणने मुझे भेजा था, वानर मुझे पहिचानकर नाक-कान काटने लगे तब आपकी दोहाई देनेपर श्रीलक्ष्मणजीने छुड़ा दिया और रावणके लिये पत्रिका दी। हमने जाकर पत्रिका दी और विनती की कि श्रीसीताजीको जाकर दो और श्रीरामशरण स्वीकार करो, यह सुनकर उसने लात मारी, तब मैं भागकर प्रभुकी शरण आया। इतना कहते ही वह श्रीरामकृपासे मुनि हो गया। प्रणाम करते ही प्रभुने अपना लिया—*'सकृत प्रनाम किये अपनाये', 'भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै। तत्काल तुलसीदास जीवन जन्मको फल पाइहै'*—(विनय०)।

'शुक'.....यह पूर्व जन्ममें वेदज्ञ ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण था। यह वानप्रस्थ विधिसे अपने धर्म-कर्ममें स्थित होकर वनमें रहता था। देवताओंकी वृद्धि और राक्षसके नाशके लिये इसने वनमें बसकर बहुत यज्ञ और तप किये। अतः राक्षस इससे वैर रखते थे। वज्रदन्त नामक राक्षस इसके पीछे पड़ा था। विप्रदेवका अपकार करनेपर उतारू होकर वह अवसरकी घातमें रहने लगा। एक दिन अगस्त्यजी मुनिके आश्रममें आये। मुनिने उनको भोजनके लिये निमन्त्रित किया। अगस्त्यजी स्नान करने गये। उसी समय वह राक्षस उनका रूप धरकर मुनिके पास आया और इनसे कहा कि बकरेका मांस भोजन करेंगे वही बनाना। शुक मुनिने मांस बनाया और अन्य बहुत प्रकारके भोजन भी बनाये। जब अगस्त्यजी आ गये और भोजन करने बैठे तब राक्षसने मुनिकी स्त्रीको मोहित कर दिया और स्वयं स्त्री बनकर मनुष्यका मांस भोजनमें मिलाकर अगस्त्यजीके आगे परोसकर गायब हो गया। मुनिने अपने आगे अभक्ष्य मनुष्यका मांस देख शाप दे दिया कि तू राक्षस हो जा और मनुष्यका मांस खाया कर। मुनिने प्रार्थना की कि आप ऐसा कह गये थे, अब मेरा क्या अपराध? अगस्त्यजीने ध्यान करके सब हाल जान लिया तब शापानुग्रह किया कि तुम जाकर रावणके सहायक होगे। वह तुमको गुप्त दूत बनाकर भेजेगा, रामदर्शन करनेपर तुम शापमुक्त हो जाओगे और लौटकर तुम रावणको जाकर तत्त्वज्ञानका उपदेश करोगे तब तुम मुक्त होकर परम पद प्राप्त करोगे। मुनिवर अगस्त्यके ऐसा कहनेपर वह राक्षस होकर रावणके पास रहने लगा। अब श्रीरामदर्शनकर वह पुनः पूर्ववत् ब्राह्मण शरीर हो वानप्रस्थोंके साथ रहने लगा। (अध्यात्म रा० ६। ५। ५-२४)

मा० त० सु०—*'मुनि ग्यानी'* का भाव कि वह ज्ञानके अभिमानमें सदा मग्न रहता था, भक्त न था, इसीसे पतनको प्राप्त हुआ, यथा—*'जे ग्यान मान बिमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी। ते पाइ सुरदुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥'*

टिप्पणी—२ शुकके वचन सुनकर श्रीरामजी कुछ न बोले, कारण कि वे मौनव्रतमें हैं। रामकृपासे पुनः मुनिस्वरूप प्राप्त हो गया, अतएव बारम्बार प्रणाम करते हैं। जैसे अहल्या अपना स्वरूप पानेपर *'बारबार हरिचरन परी।'* मुनि हो गया, इसीसे अब मुनि कहा।

* के-ना० प्र०। श्राप-का०। † कहु-भा० दा०‡ 'करि०', (११), 'मुनि०' पायकुलक, राम०' अनुकूल, 'बंदि स्वागता।

दो०—बिनय न मानत जलधि जड़ गये तीन दिन बीति।
बोले राम सकोप तब भय बिनु होइ न प्रीति॥५७॥
लछिमन बान सरासन आनू। सोखौं बारिधि बिसिष कृसानू*॥१॥

अर्थ—(इधर) जड़ समुद्र विनय नहीं मानता, तीन दिन बीत गये। तब श्रीरामजी कोपसहित बोले कि बिना भयके प्रीति नहीं होनेकी॥ ५७॥ हे लक्ष्मण! धनुष बाण लाओ। मैं अग्निबाणसे समुद्रको सोख लूँ॥ १॥

नोट—१ *'बिनय न मानत'''''* इति। भाव यह कि तीन दिनतक विनती करनेपर समुद्रने दर्शन नहीं दिये, इससे जान पड़ता है कि उसे बड़ा गर्व है। हम जानते हैं कि शान्ति, क्षमा, सरलवृत्ति और प्रियवादिता इत्यादि साधुओंके गुणोंका, गुणरहित दुर्जनोंके समक्ष, प्रयोग असमर्थताका सूचक होता है। जो गुणहीन होनेपर भी अपनी शूरता आदिकी प्रशंसा करते फिरते और बिना प्रयोजन ही लोगोंको दण्ड दिया करते हैं उन्हीं लोगोंका सत्कार दुराचारी अहंकारी लोग किया करते हैं। ''''यथा—'**प्रशमश्च क्षमा चैव आर्जवं प्रियवादिता॥ असामर्थ्यफला ह्येते निर्गुणेषु सतां गुणाः। आत्मप्रशंसिनं दुष्टं धृष्टं विपरिधावकम्॥ सर्वत्रोत्सृष्टदण्डं च लोकः सत्कुरुते नरम्। न साम्ना शक्यते कीर्तिर्न साम्ना शक्यते यशः** (वाल्मी० ६। २१। १४—१६) इसी तरह अ० रा० में कहा है कि इसने मेरा अभिनन्दन नहीं किया, समझता है कि यह एक मनुष्य ही तो है, मेरा क्या कर सकता है। यथा—'**जानाति मानुषोऽयं मे किं करिष्यति वानरैः॥**' (६। ३। ६२) यह सब जो श्रीरामजीने कहा है यह इस दोहेके पूर्वार्ध और *'भय बिनु होइ न प्रीति'* से कविने सूचित कर दिया है।

टिप्पणी—१(क) *'गये तीन दिन बीति'* से सूचित हुआ कि तीन दिनका प्रमाण करके बैठे थे, उसके बीत जानेपर चौथे दिन बोले। (ख) विनय नहीं मानता क्योंकि जड़ है, यथा—*'गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कै नाथ सहज जड़ करनी॥'* (ग) *'बोले राम सकोप तब'* का भाव कि अपना कोप पहले वचनसे कहकर दिखाते हैं; जिसमें वह सुनकर हाजिर हो जाय, बाणका अनुसंधान न करना पड़े—यह श्रीरामजीके हृदयकी कृपा है। जो पूर्व कह आये कि *'माँगत पंथ कृपा मन माहीं'* वही कृपा अब भी मनमें है; नहीं तो इसके कहनेका कोई प्रयोजन न था। 'तीन दिन बैठे' क्योंकि समुद्र तीर्थ है और तीर्थमें तीन रात निवास करना शास्त्रमें लिखा है [प० पु० सृष्टिखण्डमें श्रीरामजीने श्रीभरतजीसे कहा है कि हम तीन दिनतक समुद्रतटपर इस आशासे ठहरे रहे कि वह हमें दर्शन देगा और अपना कुटुम्बी समझकर मेरा कार्य करेगा। (अ० ३५)] जड़ प्राणी विनयसे प्रीति नहीं करते, भयसे प्रीति करते हैं।

शंका—समुद्रने हनुमान्‌जीको रामदूत जानकर उनको विश्राम देनेके लिये मैनाकको भेजा था। श्रीरामजी तीन दिन तक बैठे रहे; इनके पास क्यों न आया? समाधान—(क) हनुमान्‌जीका पुरुषार्थ देखकर तब मैनाकको भेजा था और श्रीरामजीके वचन सुनकर माधुर्यमें भूल गया। *'सुनु कपीस लंकापति बीरा। केहि बिधि''''दुस्तर सब भाँती॥'* इसीसे मार्ग न दिया। गङ्गाजी भी इसी तरह मोहको प्राप्त हुई थीं—अ० १०१ (५) देखिये। जब श्रीरामजीका बल उसने देखा तब वह प्रसन्न हुआ और मार्गका उपाय बताया। *'देखि रामबल पौरुष भारी। हरषि पयोनिधि भयउ सुखारी॥'* (६०। ७) ५९(१) देखिये अथवा, (ख) उत्तरतटवासियोंका नाश करानेके लिये न आया जिसमें प्रभु क्रोध करके बाण संधान करें तब मैं जाकर प्रार्थना करके उसी बाणसे उनका नाश कराऊँ जैसा आगे स्पष्ट है—*'यह सर मम उत्तर तटबासी। हतहु नाथ''''॥'*

मा० त० मु०—यदि वह चाहता तो प्रथम ही प्रार्थना कर उत्तरतटवासियोंको मरवाकर अपना कष्ट दूर कर लेता क्योंकि दुष्टनिग्रहके लिये तो प्रभुका अवतार ही था, यथा—*'खलदल दलन देवहितकारी।'* परन्तु यहाँ पहले प्रभुकी अवज्ञाकर क्रोध उत्पादन किया, पीछे शरणमें आकर दुःख निवेदन किया, यही जड़ता है।

* ब्र०, चं०—५७ वानर दोहा, 'लछिमन''''' तामरस, 'सोखौं' पायकुलक।

टिप्पणी—२ *'भय बिनु होइ न प्रीति'* से जनाया कि प्रीति करनेके लिये कुपित वचन सुनाकर भय दिखाया, हृदयमें क्रोध नहीं है।

टिप्पणी—३ *'लछिमन बान……'* इति। (क) यह वचन द्वारा भय दिखाया जैसे सुग्रीवको दिखाया था, यथा—*'भय दिखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव॥'* लक्ष्मणजी सदा श्रीरामजीकी सेवामें हाजिर रहते हैं, अतः कहा कि *'लछिमन……।'* यदि वे सेनामें होते तो ऐसा कदापि न कहते। (घ) धनुष-बाण माँगकर जनाया कि वे व्रतमें निरायुध बैठे हैं। माँगते ही उन्होंने धनुष-बाण हाजिर कर दिये, इसीसे आगे कहते हैं कि *'अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा।'* (ग)वारिको सोखनेको कहते हैं इसीसे *'बारिधि'* पद दिया। [सोखनेका भाव कि जो इसका गर्व है कि मैं जलका अधिष्ठान हूँ यह गर्व मिटा दूँगा; दूसरे सारी सेना बिना प्रयास पैदल ही उस पार चली जायगी। *'बिसिख कृसानू'* से जनाया कि यह अग्निबाण है। ☞ भारतवासी देखें कि उस समय हमारे यहाँकी धनुर्विद्या कितनी बढ़ी-चढ़ी थी। हम पाश्चात्त्य शिक्षा पाकर अपने शास्त्रोंकी निन्दा करने लगे, अपनी संस्कृति ही भूल गये और स्वतन्त्रता प्राप्त करके भी हम अपनी आँखोंसे नहीं देखना चाहते। न उस प्राचीन संस्कृतिकी ओर ध्यान देते हैं। (घ) श्रीलक्ष्मणजीसे जो कहा था कि *'ऐसइ करब……'* उसे चरितार्थ किया। लक्ष्मणजीने कहा था *'करिय मन रोषा'*, अतः *'बोले राम सकोप'* और *'सोखिय'* अतः *'सोखौं बारिधि'* कहा]

सठ सन बिनय कुटिल सन प्रीती। सहज कृपन* सन सुंदर नीती॥ २॥
ममतारत सन ग्यान कहानी। अति लोभी सन बिरति बखानी॥ ३॥
क्रोधिहि सम कामिहि हरि कथा। ऊसर बीज बए फल जथा†॥ ४॥

अर्थ—मूर्खसे विनय, कुटिलसे प्रीति, स्वाभाविक कृपण-(कंजूस-) से सुन्दर नीति॥ २॥ जो ममतामें अनुरक्त है उससे ज्ञान-कथन करना, अत्यन्त लोभीसे वैराग्य बखान करना॥ ३॥ क्रोधीसे शम एवं समता बुद्धि और कामीसे हरिकथा-(कहने-) का फल वैसा ही है जैसा ऊसरमें बीज बोनेका फल हो। (अर्थात् व्यर्थ जाता है क्योंकि जहाँ तृण नहीं जमता वहाँ अच्छा बीज कैसे जमेगा)॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) 'शठसे विनय'—यहाँ यही प्रस्तुत प्रसंग है अतएव इसे प्रथम कहा। विभीषणजीने सागरसे विनय करनेकी राय दी, तीन दिन विनय की, उसने न सुना तब कहते हैं कि शठसे विनय करना व्यर्थ है, उसको दण्ड देना ही ठीक है यथा—*'श्रवन सुनी सठ ता करि बानी। बिहँसा……।'*(३६। १) [शठसे विनय करनेसे वह समझता है यह मुझसे डरता है। इसीसे मुझसे विनय करता है। (मा० त० भा०)] (ख) कुटिलसे प्रीति व्यर्थ है, यथा—*'मैं खल हृदय कपट कुटिलाई। गुरु हित कहइ न मोहि सोहाई॥'* (७। १०६। १६) (ग) *'सहज कृपन'* अर्थात् वह कृपण नहीं कि जो कृपणके संगसे कृपण हो जाता है, क्योंकि इसकी कृपणता तो छूट जाती है, किन्तु जो स्वभावसे जन्मका ही कृपण है उसे यहाँ कहा; क्योंकि इसकी कृपणता नहीं छूटती; अतः उससे सुन्दर नीति कहना व्यर्थ है। धनको धर्ममें तथा उचित भोगमें व्यय करना उत्तम नीति है अन्यथा राजा, चोर आदि ही उसे ले जाते हैं, उसका नाश ही होता है। पर कृपणको कितना ही यह समझाओ उसकी बुद्धिमें नहीं चढ़ता। अतः समझाना व्यर्थ होता है।

टिप्पणी—२ (क) *'ममतारत सन ग्यान कहानी'* विरक्त ज्ञानका अधिकारी है, यथा—*'बादि बिरति बिनु ब्रह्म बिचारू॥'*(२। १७८। ४)। ब्रह्मविचारके लिये वैराग्य चाहिये, यही आगे स्वयं स्पष्ट कहते हैं कि *'अति लोभी सन बिरति बखानी'* व्यर्थ है। (ख)—ममता *'तरुन तमी अँधियारी'* है और ज्ञान प्रकाशरूप है, इससे ये दोनों एकत्र नहीं हो सकते। (उसको सूर्यरूप कहा है, यथा—*'जासु ग्यान रबि भव निसि नासा।'……'तेहि कि मोह ममता नियराई॥'*(२। २७७। १-२) ममता ज्ञानका बाधक है, इसीलिये ज्ञानी इसका त्याग करते हैं, यथा—*'ममता त्याग करहिं जिमि ग्यानी॥'*(४। १६। ५) (ग) पहले कृपणको कहा आगे

* कृपिन—(का०,ना० प्र०)। † ब्र० चं०—'सठ……' पायकुलक, 'सहज……' (३) चण्डी, ४ में ३५५, ३१३ वाँ भेद।

लोभीको कहते हैं। दोनोंमें यह भेद है कि कृपण अपनी चीज नहीं देता और लोभी दूसरेकी वस्तु ले लेता है। कृपणता दूसरेके देनेमें है और लोभ धन जुटानेमें।

टिप्पणी—३ (क) काम, क्रोध और लोभ तीनों ज्ञान, वैराग्य और भक्तिके नाशक हैं। क्रोध *'सम'* अर्थात् ज्ञान (समता-बुद्धि; *'देख ब्रह्म समान सब माहीं'*) को नष्ट करता है, यथा—*'क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु द्वैत कि बिनु अज्ञान॥'* (७। १११), *'ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥'* (३। १५) काम हरिकथा अर्थात् भक्तिका नाश करता है। भाव कि कामीका मन सदा विषयोंमें ही लगा रहता है। वह हरिकथाके पास जायगा ही नहीं, कथा उससे कहोगे तो वह सुनेगा ही नहीं। यह भजनका बाधक है इसीसे कामको त्यागकर भजन करनेको कहा है—*'जब लगि भजत न राम कहुँ सोकधाम तजि काम॥'*(४६) लोभ वैराग्यका नाशक है। (ख) *'लोभी'* के साथ *'अति'* विशेषण दिया। तात्पर्य कि और विकार अपने प्रमाण भर रहते हैं पर लोभ *'अति'* हो जाता है अर्थात् इसका पेट कभी नहीं भरता। 'चाहे त्रिलोकीका राज्य ही इसे क्यों न मिल जाय तब भी यह न अघायेगा, कोई-न-कोई इच्छा बनी ही रह जायगी। यथा—*'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई॥'*(६। १०१) ☞ *'बखानी'* क्रिया सबके साथ है। अथवा क्रिया न देकर जनाते हैं कि ये क्रियाएँ (कर्म) न करे; जैसे हमारी चौपाइयोंमें क्रियाका नाम नहीं। इसीसे *'सठ सन बिनय'* यह कहा पर उसके साथ *'करब'* क्रिया न दी, जिससे जनाया कि शठसे विनय करना ही न चाहिये। इसी भावसे और चरणोंमें भी क्रियाएँ नहीं दी गयीं।

शठ, कुटिल, कृपण, ममतारत, लोभी, क्रोधी और कामी ये सातों ऊसर भूमि हैं। विनय, प्रीति, नीति, ज्ञान-कहानी, विरति, शम और हरिकथा बीज हैं। इनको बीज कहा। सप्तधान्य प्रसिद्ध हैं इसीसे सात ही बीज गिनाये गये।

शिला—१ ये सातों अवगुण सिंधुमें कहकर जनाया कि ऊसर-भूमिसमान शरीरमें यदि सात अवगुण हों तो उसमें उसके प्रतिकूल सात गुण जो बीज रूप हैं वे कैसे जम सकते हैं।

शिला—२ सातों अवगुण सिंधुमें हैं, यथा—वह शठ अर्थात् जड़ है, अतः विनय व्यर्थ हुई—(१)। वह कुटिल है। हमने साम करना चाहा, इसीसे उसने न माना। प्रेम करने योग्य होता तो रावण कूट न करता कि *'सागर सन ठानी मचलाई'*—(२)। सहज कृपण है। रत्नाकर है, पर न धन दे, न खावे; तब कुलगुरु मानकर नीतिसे आशा करना व्यर्थ हुआ—(३)। जलमें ममत्व है अतः खारी हो गया कि कोई पी न जाय, अथाह बना रहा। उसको ज्ञान देना कि सोख लेंगे, व्यर्थ है—(४)। लोभी है तब कैसे चाहे कि जलसे विरक्त हो जाय, जल सोख लेने दे—(५) क्रोधी है प्रलयमें क्रोध करता है तब कैसे चाहेगा कि रावणवध करके हम समता विस्तार करें, यथा—*'रामप्रताप बिषमता खोई'* (६) नदियोंका पति है अतएव कामी है, उसे कैसे रुचे कि रावणवध होकर रामायण बने, लोग गा-गाकर भगवान्‌में अनुरक्त हों, कामादिको छोड़ें—(७)।

मा० त० सु०—शठता, कुटिलता, कृपणता, ममता, अतिलोभ, क्रोध और काम। ये सातों जीवके लिये भगवद्भक्तिके बाधक हैं। इसी प्रकार जीवके कल्याणके लिये—'विनय, प्रीति, सुनीति, ज्ञान, वैराग्य, शान्ति और हरिकथा—ये सात ही साधन भी हैं। उदाहरण क्रमसे (१) शठ, यथा—*'तुलसिदास हरिनाम सुधा तजि सठ हठि पियत बिषय बिष माँगी'* विनय, यथा—*'सीतलता सरलता मइत्री।'* (२) कुटिल, यथा—*'कहनि आन बिधि रहनि आन बिधि मन सुख पावै कैसे'*—(*'सरल सुभाउ न मन कुटिलाई'*)। प्रीति, यथा—*'सीस नवहिं सुर गुर द्विज देखी। प्रीति सहित'''।'*(३) कृपण, यथा—*'कृपन बिमूढ़ा। जीवत सव सम चौदह प्रानी।'* सुनीति, यथा—*'नीति निपुन जिन्ह कै जग लीका। घर तुम्हार तिन्ह के हिय नीका।'*(४) ममता, यथा—*'ममता केहि कर जस न नसावा।'* ज्ञान, यथा—*'सब ते मोहि परमप्रिय ज्ञानी।'* (५) लोभ,यथा—*'लोभ ग्रसे सुभ कर्म', 'लोभ न अंध कीन्ह केहि केही।'* वैराग्य, यथा—*'बिरति चर्म संतोष कृपाना', 'कहिय तात सो परमबिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥'* (६) क्रोध, यथा—*'क्रोध करहि जिमि धर्महि दूरी', ('क्रोध पापकर मूल')*। शम, यथा—*'सम

दम नियम नीति नहिं डोलहिं', 'सम अभूतरिपु बिमद बिरागी।' (७) कामी, यथा—*'को जग काम नचाव न जेही।'* हरिकथा यथा—*'जो सुनत गावत कहत समुझत परम पद नर पावहीं।'* सातों बाधक नरकदायक हैं और सातों साधक मुक्तिदायक हैं। (☞ इन भावोंके देनेका तात्पर्य यह है कि पाठक लोग और उत्तम भाव विचारकर सूचना दें कि ये सात दोष और गुण समुद्रके प्रसङ्गमें देनेका तात्पर्य क्या है?)

श्रीलमगोड़ाजी—उपर्युक्त टिप्पणियोंके विचारोंसे प्रभावित होकर मेरा हृदय प्रफुल्लित हो उठा और मेरी यह धारणा और भी पक्की हो गयी कि तुलसीदासजीके इस कौशलको संसारका कोई कवि नहीं पहुँचा जिसके द्वारा वे बिना कृत्रिमताके नाटकीय और महाकाव्यकलाओंका एकीकरण करते हैं। देखिये, नाटकीयकलामें भगवान्‌के भावमें जिस नीतिके सिद्धान्तसे परिवर्तन हुआ है उसको किसी नीतिके ग्रन्थके अवतरणके रूपमें दोहराना कितना स्वाभाविक है! नीतिज्ञ लक्ष्मणसे ही कहना तो मानो सोनेमें कुन्दन है; कारण कि लक्ष्मणजीहीके विचारोंको दोहराकर (कहना) उनकी नीतिका ही समर्थन है। अवतरण या मसल-(कहावत-) का रूप कितना सुन्दर है! ऐसे अवसरपर मसलका कुछ अंश फाजिल होता ही है। यहाँ सिंधुमें शठता और कुटिलता दो ही स्पष्ट हैं। विनय और प्रीति धर्म एवं दैवी नीतिके अङ्ग हैं। शठता और कुटिलता आसुरी नीतिके अङ्ग हैं, जो कूटनीति है। कौटिल्य अर्थशास्त्रके जोड़का, सम्भवतः बृहत् शुक्रनीति-जैसे ग्रन्थका प्रमाण अनुमानसे जान पड़ता है, कारण कि दोनोंके एकीकरणका उद्योग है। पर उपर्युक्त टिप्पणियोंके विचारोंसे स्पष्ट है कि सूक्ष्मदर्शी महानुभाव यहाँ सभी ठीक पाते हैं। धन्य हैं कवि और सूक्ष्मदर्शी विद्वान्।

अब लोग सोचें कि ग्राउस महोदयका विचार ठीक है कि अयोध्याकाण्डके बाद कलाका उतार है, या वास्तवमें कलाका महाकाव्यरूपमें चढ़ाव है, जहाँ भौतिकवाद पहुँच नहीं पाता और इसलिये 'अंगूर खट्टे' कह देता है।

नोट—१ यहाँ समुद्रकी शठता ही वर्ण्य विषय है। शठसे विनय करना व्यर्थ जाता है, यही यहाँ प्रस्तुत प्रसङ्ग है। शेष सब अवर्ण्य विषय है, केवल लोकशिक्षार्थ सबका एक धर्म होनेसे कह दिये गये। सबका एक ही धर्म है *'ऊसर बीज बये फल जथा'* अर्थात् व्यर्थ होना, इसीसे वे सब कह दिये गये, यद्यपि कारण भिन्न-भिन्न हैं।

हम अरण्यकाण्डमें बता आये हैं कि यह कविकी शैली है कि वह ऐसे अवसरोंपर नहीं चूकता, लोकशिक्षार्थ समान धर्मवाली नीतियाँ कह देता है। शूर्पणखाके मुखसे इसी तरह अनेक नीतियाँ कहलायी हैं। (३। २१। ८—११) देखिये।

इसी तरह अयोध्याकाण्डमें अवध-दरबारमें श्रीभरतजीको समझाते समय मुख्य प्रयोजन तो केवल *'सोचु जोगु दसरथ नृप नाहीं'* इतनेसे ही था तथापि कविने शोचनीय कौन है और कौन नहीं है यह सब श्रीवसिष्ठद्वारा कहलाकर उन्होंने लोकशिक्षा दृष्टिसे चारों वर्णों और आश्रमोंके धर्म कह दिये हैं। वर्ण्य विषय *'सोचु जोगु दसरथ नृप नाहीं'* से उठाकर आगे सब अवर्ण्य विषय १७२ (३) से १७३ (४) तक कहा गया है।

इसी प्रकार श्रीभुशुण्डिजीसे लोमशजीको क्रोध आनेपर *'क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु'* वर्ण्य विषयके साथ अनेक युक्तियाँ कहलायी हैं। (७। १११ से ११२ (१०) तक। इत्यादि अनेक उदाहरण इसी ग्रन्थमें हैं। वैसे ही यहाँ भी कहे गये। यह आवश्यक नहीं है कि सारा अवर्ण्य विषय सागरमें घटाया जाय।

नोट—२ मेरी समझमें तो जो वाल्मी० ६। २१। १४-१५ में श्रीरामजीने कहा है कि शान्ति, क्षमा, सरलवृत्ति और प्रियवादिता आदि साधुओंके गुणोंका, गुणरहित दुर्जनोंके समक्ष, प्रयोग असमर्थता सूचक होता है उसीको यहाँ विस्तार और बड़े सुन्दर ढंगसे कहा गया है। यह हुआ साहित्यिक दृष्टिसे और यों तो मानसकल्पमें ऐसा ही कहा गया है, वही कविने लिखा।

अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा। यह मत लछिमन के मन भावा॥ ५॥
संधानेउ प्रभु बिसिख कराला। उठी उदधि उर अंतर ज्वाला॥ ६॥

मकर उरग झषगन अकुलाने। जरत जंतु जलनिधि जब जाने॥७॥
कनकथार भरि मनिगन नाना। बिप्ररूप आएउ तजि माना*॥८॥

अर्थ—ऐसा कहकर रघुपति श्रीरामजीने धनुष चढ़ाया। यह मत लक्ष्मणजीके मनको अच्छा लगा॥५॥ प्रभुने कठिन भयंकर बाण धनुषपर चढ़ाया, तब समुद्रके हृदयमें अग्निकी ज्वाला उठी॥६॥ मगर, सर्प और मछलियोंके समूह व्याकुल हो गये। (जब) समुद्रने जीवोंको जलते जाना॥७॥ तब सोनेके थालमें अनेक मणियोंको भरकर अभिमान छोड़कर वह ब्राह्मण रूपसे आया॥८॥

टिप्पणी—१ (क) *'अस कहि'* का भाव कि प्रथम वचनसे भयमात्र दिखाया, सकोप होकर बोले कि जिसमें कोप देखकर वह रास्ता दे दे। श्रीरामजीने सागरपर, मन, वचन, कर्मसे अपनी कृपा दिखायी। मनसे तो कृपा विभीषणादिसे समुद्र पार होनेका मन्त्र पूछनेके समयसे ही है। नहीं तो विभीषणजीका मत न मानकर लक्ष्मणजीका मत तभी मान लेते। *'माँगत पंथ कृपा मन माहीं।'* कहा ही है। कर्मसे कृपा यह है कि तीन दिन तटपर बैठे रहे कि आकर पार जानेकी युक्ति बतावे। फिर न आनेपर केवल वचनसे भय दर्शन कराया, तब भी न आया तो भी केवल धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी कि अब भी आ जाय। वचनसे कृपा यह की कि लक्ष्मणजीको समझाया कि प्रथम ही बाण चलाना उचित नहीं, *'ऐसहि करब धरहु मन धीरा।'* धनुष चढ़ानेपर भी जब वह न आया तब कराल बाण संधान किया, अभी छोड़ा नहीं। बाण चढ़ाकर उसके उरमें ज्वाला प्राप्त कर दी जिससे व्याकुल होकर हाजिर हो जाय, नहीं तो बाण छोड़ते ही वह सूख जायगा। यहाँतक कृपा है। (ख) यह मत लक्ष्मणजीको रुची। भाव कि जब समुद्रने श्रीरामजीका अपमान किया तब इनको बहुत क्रोध हुआ पर क्या करते, प्रभुकी आज्ञा नहीं है कि उसे दण्ड दिया जाय। अतः जब श्रीरामजी उसे दण्ड देनेको उद्यत हुए तब ये बड़े प्रसन्न हुए। यह भाव जनानेके लिये यहाँ लिखा कि *'यह मत""'* नहीं तो उनके मनमें तो यह भाव पूर्वसे ही था उसके लिखनेका यहाँ क्या प्रयोजन था? (ग) पूर्व कहा था कि *'मंत्र न यह लछिमन मन भावा'* उसीकी जोड़में यहाँ कहते हैं कि *'यह मत""।'*

टिप्पणी—२ *'संधानेउ प्रभु""'* इति। (क) लक्ष्मणजीने माँगते ही धनुष-बाण दिया, प्रभुने बाण धनुषपर चढ़ाया। समुद्रमें ज्वाला उठी। जो विभीषणने कहा था कि *'कोटि सिंधु सोसक तव सायक'* वह सत्य है; यदि यह बाण छूटे तो अवश्य सोख ले। (ख) यहाँ सामर्थ्य दिखाया, अतः 'प्रभु' पद दिया। समुद्रमें ज्वाला उठी, यह बाणकी करालता कही। अन्तर, माँझ, मध्य, बीच सबका अर्थ 'में' है।

टिप्पणी—३ *'मकर उरग झषगन अकुलाने'* इति। (क) इससे जनाया कि वे समुद्रके बाहर नहीं निकल सकते। जलका जलना समुद्रको न जान पड़ा क्योंकि जल जड़ है, और जन्तु चैतन्य हैं, अतः उनका 'जलना जानना' कहा। जड़को जब ज्वाला व्याप्त हो तब वह जाने। जलनिधि इतना जड़ है कि रामजीने प्रणाम किया, अनशन व्रत किया, तीन दिन बैठे रहे, फिर कोप किया, इत्यादि तबतक न आया, जब देखा कि मेरे सब आश्रित मरे जाते हैं इनको बचाना चाहिये तब आया।

टिप्पणी—४ *'कनकथार भरि मनिगन""'* इति। (क) ये मणिगण ऐसे दिव्य थे कि कनकथालमें रखे गये। समुद्र रत्नाकर है और श्रीरामजी राजा हैं, इसीसे मणिगण भेंटके लिये लाया, यथा—*'सागर निज मर्जादा रहहीं। डारहिं रतन तटन्हि नर लहहीं॥'* (ख) मणि लानेका भाव। उसने विचारा कि जब चौदह रत्न निकले तब भगवान्ने कौस्तुभमणि और लक्ष्मीको लिया, हम मणिगण देंगे तब प्रसन्न होंगे, पर श्रीरामजी मणि पाकर प्रसन्न न हुए, वरन् विनीत वचन सुनकर प्रसन्न हुए। [राजाके समीप खाली हाथ न जाना चाहिये, यथा—'**रिक्तहस्तो न गच्छेत राजानं देवतां गुरुम्**'](ग) *'बिप्र रूप'* इससे धरा कि वे ब्रह्मण्यदेव हैं, ब्राह्मणरूपपर अस्त्रका प्रहार न करेंगे, यथा—*'सुर महिसुर हरिजन अरु गाई। हमरे कुल इन्ह पर न सुराई॥'*(१।२७३।६), *'प्रभु ब्रह्मण्य देव मैं जाना।'*(१।२०९) भगवान् नररूप हैं, इसीसे नररूपसे आया।

* ब्र० चं०—(५) चण्डी, (६—८) पायकुलक।

(घ) *'तजि माना'*—समुद्रको अभिमान था कि मैं बड़ा हूँ, इनको उतारा देनेसे मेरी बड़ाई न होगी। यथा—*'उतरिहि कटकु न मोरि बड़ाई।'* अथवा मान छोड़कर शरणमें आनेसे भगवान् प्रसन्न होते हैं, यथा—*'की तजि मान अनुज इव प्रभु पद पंकज भृंग।'* अतः *'मान तजि'* कहा।

दो०—काटेहि पइ कदरी* फरै कोटि जतन कोउ सींच।
बिनय न मान खगेस सुनु डाटेहि पइ नव† नीच‡॥५८॥

अर्थ—चाहे कोई करोड़ों यत्नसे केलेको सींचे (वह नहीं फलेगा) पर वह तो काटनेहीसे फलेगा (अन्यथा किसी प्रकार नहीं)। हे खगेश गरुड़जी! सुनिये! नीच विनयसे नहीं मानता, वह तो डाँटनेपर ही झुकता है। तात्पर्य कि नीचसे विनय न करे, उसे डाँटे॥ ५८॥

टिप्पणी—१ (क) श्रीरामजीने विनती की। जब विनयसे कुछ सिद्ध न हुआ तब ऊसर और बीजकी उपमा दी; क्योंकि ऊसरमें बीज सफल नहीं होता, व्यर्थ जाता है। और जब उनके डाँटनेपर समुद्र आकर चरणोंपर पड़ा, तब कदलीकी उपमा दी; यह काटनेपर ही सफल होता है। (ख) बहुत-से वृक्ष ऐसे हैं जो काटनेसे फल देते हैं पर यहाँ कदलीकी उपमा देनेका कारण यह है कि और वृक्ष बिना काटे भी कुछ-न-कुछ फल देते हैं; पर कदली बिना काटे बिलकुल नहीं फलता। (केलेका वृक्ष जब एक बार फल दे देता है तब न तो उसमें दुबारा फल लगता है और न उसकी जड़से जो उसके बच्चे और पेड़ निकलते हैं उनमें फल लगता है जबतक वह पेड़ काट न डाला जाय जो फल दे चुका है। यह नियम है।) (ग) *'कोटि जतन कोउ सींच।'* सींचनेका बहुत यत्न लिखकर जनाया कि नीचसे विनती करे, उसकी सेवा करे, उसके साथ उपकार करे इत्यादि अनेक यत्न करे तो भी वह नहीं माननेका। सामनीति सींचना है और दण्ड काटना।

टिप्पणी—२ *'खगेस'* सम्बोधनका भाव कि तुम जानते हो कि समुद्रने एक पक्षीके अण्डे डुबा दिये थे, तब उसने तुमसे पुकार की। जब तुमने जाकर डाँटा तब उसने अण्डा दिया। यह कथा भारतमें है। जलकी नीच संज्ञा है, यथा—*'कीचहि मिलै नीच जल संगा।'* (दो० ३५४) से मिलान कीजिये—*'नीच निरादर ही सुखद, आदर सुखद बिसाल। कदरी बदरी बिटपगति, देखहु पनस रसाल॥'*

श्रीलमगोड़ाजी—कहाँतक व्याख्या की जाय? जहाँसे महाकाव्य-कलाका अधिक विकास प्रारम्भ हुआ है (अर्थात् *'निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।'* (३। ९) वाले सीनसे), वहाँसे महाकाव्यकलाके दोनों रूप साथ-साथ हैं। आधिदैविक और आध्यात्मिक एक ओर, राष्ट्रीय रूप दूसरी ओर। इसीसे उन्हींके अनेक सुन्दर रत्न ही काव्योंमें भरे पड़े हैं। मानो उन रत्नोंका समुद्र ही उमड़ रहा है और उन रत्नोंको बिखेर रहा है। धन्य है कला कि काकजी भी *'खगेस'* ही कहकर सम्बोधन करते हैं। और दूसरे रहस्यको छोड़कर राजनीतिके दृष्टिकोणसे ही आलोचना करते हैं। 'सुनु' शब्द तो इतना सुन्दर बन पड़ा है कि कहते नहीं बनता। यह बता रहा है कि गरुड़जी और ही उधेड़-बुनमें विचार ले जा रहे थे और सम्भव था कि फिर मोहकी उलझनमें पड़ जाते; इसीसे जोरसे ध्यान उस ओरसे वापस लौटाकर बड़े जोरसे रामराज्यकी इस नीतिका समर्थन करते हैं।

शेखसादीने भी तो कहा है—*'निकोई बा बदाँ करदन चुनानस्त। कि बद करदन बजाए नेक मर्दां॥'* (बुरेके साथ भलाई करना वैसा ही है जैसा भलेके साथ बुराई करना।)

पर अपने-अपने भावके सामयिक जोरमें सब ही कुछ अधिक कह जाते हैं। भगवान्ने राजा रूपसे शठ तो कहा ही और काकजीने तो *'नीच'* तक कह डाला। पर धन्य है कवि कि निष्पक्ष आलोचना करते हुए केवल *'मान'* कहता है, अभिमान भी नहीं। सोचिये कि समुद्रने आगे यही तो कहा है कि भगवन्! मैं तो आपहीकी बनायी हुई मर्यादा *'मान'* की रक्षा करता हूँ। यदि और कड़ी आलोचना ठीक

* कदली † नव (का०, ना० प्र०)। कदरी नवै—(भा० दा०)। ‡ वानर दोहा—ब्र० चं०।

होती तो इतनी जल्दी समुद्र 'नवता' न, कि काटनेकी जरूरत न पड़ी और (केलेने) फल दे दिया।

तनिक विस्तारसे इसलिये लिखा गया कि महाकाव्य-कलाके सब अङ्गों और नाटकीय कलाका भी विचार रखते हुए ही रामायणके इधरके अंशोंपर आलोचना की जाय, नहीं तो भ्रमका भय ही है।

सभय सिंधु गहि पद प्रभु केरे। छमहु नाथ सब अवगुन मेरे॥ १॥
गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी॥ २॥
तव प्रेरित माया उपजाए। सृष्टि हेतु सब ग्रंथन्हि गाए॥ ३॥
प्रभु आयसु जेहि कहँ जस अहई। सो तेहि भाँति रहे सुख लहई*॥ ४॥

अर्थ—समुद्र भयभीत होकर प्रभुके चरण पकड़कर (बोला—) हे नाथ! मेरे सब अवगुण क्षमा कीजिये॥ १॥ आकाश, पवन, अग्नि, जल और पृथ्वी इन सबकी, हे नाथ! स्वाभाविक ही जड़ करनी है (अर्थात् ये पाँचों जड़ हैं)॥ २॥ सब ग्रन्थ कहते हैं कि सृष्टिके लिये आपकी प्रेरणासे मायाने इनको उत्पन्न किया है॥ ३॥ हे प्रभो! आपकी जिसको जैसी आज्ञा है वह उसी प्रकार रहता है और सुख पाता है। (अर्थात् पाँचों आपकी आज्ञानुकूल बरतते हैं; इसीसे सुख पाते हैं। यदि अपना स्वभाव छोड़ दें तो सभी दण्ड देने लगें कि हमको मार्ग दो; हमको न जलाओ; इत्यादि)॥ ४॥

नोट—१ अध्यात्मरामायणके इन श्लोकोंसे मिलान कीजिये—'**दण्डवत्प्रणिपत्याह रामं रक्तान्तलोचनम्। त्राहि त्राहि जगन्नाथ राम त्रैलोक्यरक्षक॥ जडोऽहं राम ते सृष्टः सृजता निखिलं जगत्। स्वभावमन्यथा कर्तुं कः शक्तो देवनिर्मितम्॥ स्थूलानि पञ्चभूतानि जडान्येव स्वभावतः। सृष्टानि भवतैतानि त्वदाज्ञां लङ्घयन्ति न॥'''''त्वामहं मायया छन्नं लीलया मानुषाकृतिम्॥'''''जडबुद्धिर्जडो मूर्खः कथं जानामि निर्गुणम्॥''''शरणं ते व्रजामीश शरण्यं भक्तवत्सल॥**' (६। ३। ७०—७२, ७६—७८) अर्थात् समुद्रने भेंट आगे रखकर दण्डवत् प्रणाम किया और जिनके नेत्र क्रोधसे लाल हैं उन श्रीरामजीसे बोला—हे जगत्के नाथ! हे त्रैलोक्यरक्षक राम! मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये। हे राम! आपने सृष्टि रचते समय हमको जड़ बनाया। हे देव! आपका दिया हुआ स्वभाव कौन अन्यथा कर सकता है? पञ्चभूत सहज ही जड़ हैं; आपने ही उन्हें ऐसा रचा है, इसीलिये वे आपकी आज्ञा उल्लङ्घन नहीं करते।

टिप्पणी—१ '*सभय सिंधु गहि*''''' इति। (क) प्रभु सकोप धनुषपर बाण संधान किये हुए हैं, इसीसे सभीत है कि मुझसे बड़ा अपराध हुआ, ऐसा न हो कि बाण छोड़ दें और मैं भस्म हो जाऊँ। अतः वह मन-कर्म-वचनसे शरण हुआ—'*सभय*' से मानसिक, '*गहि पद*' से कायिक और '*छमहु नाथ*' से वाचिक शरणागति जनायी। '*छमहु*' का भाव कि आप क्षमाशील हैं, यथा—'*छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता।*' (१। २८५। ६) '*जन अवगुन प्रभु मान न काऊ॥*' (७। १। ६), '*तदपि सरन सनमुख मोहि देखी। छमि सब करिहहिं कृपा बिसेषी॥*' (२। १८३। ४) (ख) सब अवगुण ये कि आपको न पहिचाना, विनय न मानी, आदर न किया वरन् तीन दिन कष्ट दिया। हाजिर न हुआ। इस प्रकार पैरों पड़कर, प्रार्थना करके प्रसन्न करना चाहता है, इसीसे अपना अपराध स्वीकार करके क्षमाकी प्रार्थना करता है। यह करके फिर अपराधका निराकरण करता है कि मेरा अपराध कुछ नहीं है, आपने ही तो मुझे जड़ बनाया और जड़ ही बने रहनेकी आज्ञा दी, तब मेरा क्या दोष?

टिप्पणी—२(क) माया जड़ है, यथा—'*जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया।*' ये पाँचों तत्त्व मायाके उपजाये हैं, अतः ये भी जड़ हैं। (ख) यहाँ जल प्रस्तुत है, उसे पहले कहना चाहिये था सो न कहा। क्योंकि यहाँ उत्पत्ति कहते हैं, पाँचोंकी जैसे-जैसे क्रमसे उत्पत्ति हुई है उसी क्रमसे यहाँ कहा गया। [तैत्तिरीय उ० ब्रह्मानन्दवल्लीमें यही क्रम है। यथा—'''''**एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी।** (अनुवाक १-) अर्थात् इस परमात्मासे पहले-पहल आकाशतत्त्व

* ब्र० चं०—(१) (२) 'तव' (४) पायकुलक, 'सृष्टि''''' स्वागता।

उत्पन्न हुआ। आकाशसे वायुतत्त्व, वायुसे अग्नितत्त्व, अग्निसे जलतत्त्व और जलसे पृथ्वी उत्पन्न हुई।] किष्किन्धामें *'छिति जल पावक गगन समीरा,'* यह क्रम है क्योंकि वहाँ शरीररचना-विषय प्रतिपादन किया गया है। किष्किन्धामें देखिये।(ग) पाँचोंकी जड़ करनी है—अग्नि जलाता है, उसे कुछ विवेक नहीं कि यह वस्तु जलाने योग्य है या नहीं। जल सबको डुबाता है, किसीको मार्ग नहीं देता। पृथ्वी पापी, पुण्यात्मा, नीच-ऊँच सभीको धारण करती है, सबको समान गन्धवती है। आकाश सबको अवकाश देता है। पवन सबको समान स्पर्श करता है। अतएव सबकी करनीको जड़ कहा।

नोट—२ वाल्मीकीयमें भी जो कहा है कि '**पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च राघव। स्वभावे सौम्य तिष्ठन्ति शाश्वतं मार्गमाश्रिताः॥**' (६। २२। २६) हम स्वभावसे अगाध और लाँघनेके अयोग्य हैं। यदि लोग सुगमतासे हमारे पार चले जायँ या जल थोड़ा हो जाय तो बताइये, हमारे स्वभावमें अन्तर हो या नहीं। हम अपनी जलराशिको नहीं रोक सकते। पर जैसी आपकी इच्छा हो वह हम करेंगे।—यह सब भाव यहाँ हैं।

टिप्पणी—३ *'तव प्रेरित माया उपजाये'''* ' इति। (क) बिना आपकी प्रेरणाके अकेली माया कुछ नहीं कर सकती। यथा—*'एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥'* (३। १५। ६) (ख) *'ग्रंथन्हि गाए'* अर्थात् सबका यही मत है कि पाँचों तत्त्व सृष्टिके हेतु (कारण) हैं। ईश्वरकी इच्छा तो सृष्टिको जड़ बनानेकी थी, इसीसे सृष्टिके *'हेतु'* भी जड़ बनाये। यदि हम पाँचों अपनी-अपनी मर्यादाको छोड़ दें तो सृष्टिकी मर्यादाका नाश हो जायगा। हमारी करनी जड़ बनी रहनेसे सृष्टिकी मर्यादा यथार्थ बनी रहती है; इसीसे आपने हमें जड़ बनाया।

टिप्पणी—४ (क) *'प्रभु आयसु जेहि'''* ' इति।—आपकी आज्ञा पाँचों तत्त्वोंपर और उनको उत्पन्न करनेवाली मायापर भी है। यथा—*'ईस रजाइ सीस सब ही के। उतपति थिति लय बिषहु अमी के॥'* (२। २८२। ५) *'सो तेहि भाँति रहे सुख लहई'* का भाव कि अपना जड़ स्वभाव छोड़ देनेसे हमको सभी कोई दण्ड देने लगेंगे—कोई कहेगा हमें मार्ग दो, कोई कहेगा हमें न जलाओ, इत्यादि। और, एकरस रहनेसे कोई कुछ नहीं कह सकता, यही कहेगा कि पाँचों जड़ हैं, जैसे हैं वैसे ही रहते हैं।

प० प० प्र०—इन महाभूतोंमेंसे यदि एक भी अपना स्वभाव छोड़ दे तो सृष्टिका प्रलय ही हो जाय; इसीसे सृष्टिके नियमोंका पालन सब करते हैं, केवल मनुष्य शरीरधारी जीव ही ईशाज्ञा वा निसर्गनियमोंका भङ्ग करता है। मनुष्यको बुद्धिस्वातन्त्र्य अंशतः दिया गया है पर वह उसका शास्त्रविरुद्ध व्यवहार करके दुरुपयोग करता है और अपने तथा अन्य जीवोंके दुःखका कारण बनता है। वह भूल गया है कि यह शरीर *'पाइ न जेहि परलोक सँवारा। सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ॥'* (७। ४३)

प्रभु भल कीन्ह मोहि सिख दीन्ही। मरजादा पुनि तुम्हरिअ कीन्ही॥५॥
ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना कै अधिकारी*॥६॥

अर्थ—हे प्रभो! आपने अच्छा किया जो मुझे शिक्षा दी। पर रही मर्यादा वह भी तो आपकी ही बनायी हुई है। (तात्पर्य कि इस सिखावनसे मर्यादाका नाश है। आपने जो मर्यादा बाँध दी कि जड़ बने रहो, किसीको उतरने न दो, आपकी इस दी हुई मर्यादाको मैंने पाला)॥ ५॥ ढोल, गँवार, शूद्र, पशु और स्त्री ये सब ताड़नाके अधिकारी हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'प्रभु भल कीन्ह'''''* ' इति। भाव कि—(क) सेवासे सबका भला होता है सो मुझसे कुछ सेवा न बनी। आपने दण्ड देकर सेवा करायी इससे आपने मेरा भला किया। (ख)—'दण्ड दिया' न कहकर 'शिक्षा' दी यह कहा क्योंकि दण्ड दिया जाना कहना विरोधकी बात है और *'सिख दीन्ही'* कहना मृदु है। जिससे भला हो वह दण्ड नहीं किन्तु शिक्षा है। शिक्षा देना भला है, नाश करनेमें कुछ भलाई नहीं है। (ग) *'मरजादा पुनि तुम्हरिअ कीन्ही'* कहनेका तात्पर्य कि यह आपकी दी हुई मर्यादा है, आप

* ब्र० चं०—'प्रभु''''' ' नयमालिनी शेष पायकुलक।

इसकी रक्षा करें, बड़े लोग अपनी दी हुई वस्तुको आप ही नाश नहीं करते। अथवा, हम ताड़नाके अधिकारी हैं। आपने भले ही ताड़ना की। रही मर्यादा बड़ाई, यह आपकी ही दी हुई है, चाहे इसे रखिये चाहे मिटा दीजिये। (घ) *'प्रभु भल·····'* की व्याख्या *'ढोल गँवार·····'* में करते हैं, *'मर्यादा पुनि तुम्हरिअ कीन्ही'* की व्याख्या *'प्रभु प्रताप मैं जाब सुखाई·····'* में करते हैं।

नोट—१ *'ढोल गँवार·····'* इति। अ० रा० में सागरने कहा है कि **'जडबुद्धिर्जडो मूर्खः कथं जानामि निर्गुणम्। दण्ड एव हि मूर्खाणां सन्मार्गप्रापकः प्रभो॥'** (६। ३। ७७), **'भूतानाममरश्रेष्ठ पशूनां लगुडो यथा'** मैं जडबुद्धि मूर्ख आप निर्गुण परमात्माको कैसे जान सकता हूँ? हे देवश्रेष्ठ प्रभो! जैसे लाठी पशुओंको ठीक-ठीक मार्गमें ले जाती है, वैसे ही (मुझ-जैसे) मूर्ख लोगोंको दण्ड ही सन्मार्गपर लानेवाला होता है।—इसमें जड़, जड़बुद्धि, मूर्ख और पशु ये नाम आये हैं। इनमेंसे मानसमें गँवार और पशु तो मूर्ख और पशुकी जगह हैं ही। जड़में ढोलको ले सकते हैं। शूद्र और नारीको जड़बुद्धिकी जगह रखकर कवि अपना अभिप्राय स्पष्ट कर देता है कि जो जड़बुद्धि शूद्र या स्त्रियाँ हैं उन्हें सन्मार्गमें लानेके लिये कभी-कभी आवश्यकता पड़ सकती है; जैसे पशुओंको ठीक मार्गपर चलानेके लिये चरानेवाला लाठीसे काम लेता है। लाठीसे पशु मारा अवश्य जाय यह बात नहीं है। हाँ, यदि उसकी आवश्यकता पड़े तो वैसा भी किया जाय।

टिप्पणी—२ *'ढोल गँवार·····'* इति। (क) यह (समुद्र अर्थात् जलतत्त्व) आप पाँच तत्त्वोंमेंसे एक है पर अकेले अपने 'जल तत्त्व' को न कहकर इसने पाँचों तत्त्वोंको गिनाया था, इसीसे पाँच दृष्टान्त दिये। पाँचों तत्त्वोंको जड़ कहा है—*'इन्ह कै नाथ सहज जड़ करनी'* और यहाँ *'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी'*मेंसे *'ढोल'* जड़ है; इसीसे उसको प्रथम कहा। शेष चार 'गँवार, शूद्र, पशु और नारी' ये चेतन हैं; इनको पीछे कहकर सूचित किया कि जैसे ढोल जड़ है वैसे ही ये भी जड़ हैं, जैसे ढोल पीटे जानेपर बोलता है और सुख देता है, वैसे ही ये सब पीटने-(शासन-) से सीधे रहते हैं और सुख देते हैं। तात्पर्य कि आपका दंड देना उचित है क्योंकि पाँचों दंडके अधिकारी हैं, और मुझे उचित है जड़ता करना क्योंकि मैं जड़ हूँ। (ख) इसकी जोड़की चौपाई *'संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह कै करनी॥'* (७। १२५। ६) है। *'संत'* चेतन हैं, उनको प्रथम कहा और *'बिटप'* आदि जड़ हैं उनको पीछे कहा। *'संत'* को प्रथम कहकर सूचित किया कि विटप, सरिता, गिरि और धरणी यद्यपि जड़ हैं तथापि परोपकारी होनेसे ये चेतनके समान हैं।

श्रीगौड़जी—इस चौपाईपर नई पच्छाहीं शिक्षाके ऊपर न्यौछावर होनेवाले अक्सर चौंक उठते हैं कि 'इसमें गोस्वामीजीने स्त्रियोंको ताड़नाका अधिकारी क्यों कहा?' जो लोग अहिंसाके बड़े कट्टर भक्त हैं वे तो क्या गँवार, शूद्र और पशुकी ताड़ना भी गवारा नहीं कर सकते। इसलिये उनकी दृष्टिमें भी इस चौपाईमें जो नीति दी गयी है, अच्छी नहीं कही जा सकती। जो लोग गोस्वामीजीको स्त्री-द्वेषी ठहराते हैं वे अन्य अनेक स्थलोंके अवतरणोंसे मिलाकर इसे भी प्रमाणमें पेश करते हैं। परन्तु इस प्रसंगको लोग भूल जाते हैं कि कविने यह चौपाई समुद्रके मुखसे कहलवायी है। इसमें एक साधारण नीति और रीति कही गयी है। यह आदर्श कथन नहीं है, स्वभाव-कथन है। यह नहीं कहा गया कि शूद्रों, गँवारों पशुओं और स्त्रियोंको पीटना ही चाहिये। पीटना कर्तव्य नहीं बताया गया है। शिक्षकको अधिकार है कि शिष्य बालककी ताड़ना करे, परन्तु यह उसका अधिकार-मात्र है। जब आवश्यकता समझे तब उस अधिकारका प्रयोग करे। बहुत सम्भव है कि उस अधिकारके प्रयोगका उसे जीवनभरमें अवसर ही न मिले। अधिकार और कर्तव्य दोनों एक नहीं हैं। कर्तव्य तो पालन करना आवश्यक है, अनिवार्य है; परंतु जिस कामका हमको अधिकार है उसे हम आवश्यकता पड़नेपर ही करते हैं। इसलिये प्रस्तुत प्रसंगमें ढोल आदि ताड़नाके अधिकारी बताये गये हैं। तात्पर्य यह कि आवश्यकता पड़नेपर इनकी ताड़ना अनुचित नहीं है। गँवार और शूद्र दोनों शब्द पुँल्लिङ्ग हैं। यहाँ स्त्री-पुरुष किसीके साथ पक्षपात नहीं है। सभी ताड़नाके अधिकारी बताये गये हैं। इसका यह मतलब नहीं है कि जो लोग अच्छे हों वे भी ताड़नाके

अधिकारी समझे जायँ। गँवारों और शूद्रोंमें भी बड़े-बड़े साधु, महात्मा और सज्जनप्रकृतिके लोग होंगे। पशुओंमें कपिला गौ भी है और स्त्रियोंमें असंख्य पूज्य देवियाँ भी हैं जो सब ताड़नाके अधिकारी नहीं हो सकते। जिनका आचरण ऐसा हो जो बिना ताड़नाके सुधर न सकें वे ही ताड़नाके अधिकारी समझे जायँगे; परन्तु शूद्रोंमें, गँवारोंमें, पशुओंमें और स्त्रियोंमें बहुत बड़ी संख्या ऐसे लोगोंकी होती है जो शिक्षा और सुधारके लिये किसी-न-किसी तरहके दण्डके अधिकारी होते हैं। ताड़ना शब्द लक्षार्थसे ढोलके सिवाय औरोंके बारेमें शिक्षा और सुधारके लिये दण्डके अर्थमें आया है। समुद्रके कहनेका भाव यह है कि आपने मेरी शिक्षाके लिये और मुझे दण्ड देनेके लिये, जो धनुष-बाण उठाया तो कुछ अनुचित नहीं किया क्योंकि मैं गँवार हूँ, इस शिक्षाका अधिकारी हूँ। मुझे चाहिये था कि आपका आगमन सुनकर मैं आपकी सेवामें उपस्थित होता। आपने जो मुझे धमकाया अच्छा ही किया।

जिन्हें स्त्रियोंके ताड़नाके अधिकारी होनेमें बड़ी आपत्ति है वे आज आँखें खोलकर संसारमें वास्तविक घटनाएँ देखें कि आदर्श, औचित्य, नीति और धर्म क्या है और वास्तविक व्यवहारमें क्या होता है। संसारकी आजकलकी सबसे अधिक सभ्य कहलानेवाली जाति जिनके यहाँ स्त्रियोंका बहुत बड़ा आदर है आजकल अंगरेज समझे जाते हैं, परन्तु कई अंगरेजोंके परिवारिक जीवनका हाल मालूम है जो अपनी स्त्रियोंको पीटनेमें संकोच नहीं करते। हमारे देशमें तो स्त्रियोंका पिटना एक मामूली-सी बात है। यह तो हुई साधारण व्यवहारकी बात। आजकलकी परिस्थितिको देखिये कि आक्सफोर्ड विश्वविद्यालयके एम्० ए०, बैरिस्टर, पण्डित जवाहरलाल नेहरू और जगत्प्रसिद्ध भारतनेता पञ्जाब-केसरी लाला लाजपतराय तक डण्डोंसे पिटे जाते हैं और ताड़नाके अधिकारी समझे जाते हैं—जो न ढोल हैं, न गँवार हैं, न शूद्र हैं, न पशु हैं, न नारी*। अहिंसावादी सत्याग्रही संसारकी परम सभ्य जातिवालोंद्वारा ताड़नाके पूरे अधिकारी समझे जाते हैं और वीरमगाँवकी शान्त स्त्रियाँ इस बातकी अधिकारिणी समझी जाती हैं कि उनपर घोड़े दौड़ाये जायँ और वह कुचलवा दी जायँ। व्यवहारमें जब यह दशा है और जब शिक्षाके लिये नीति हर शिक्षा पानेवालेको ताड़नाका अधिकारी बताती है तो स्त्रियोंको अपवाद कैसे समझा जा सकता है।

महात्मा गाँधीजी—टीकाकारोंने तो वेद, बाइबिल और कुरानमें भी बहुतेरे दोष बताये हैं। परन्तु उन ग्रन्थोंके भक्त उनमें दोषोंका अनुभव नहीं करते। प्रत्येक ग्रन्थकी परीक्षा पूरे ग्रन्थको देखकर ही की जानी चाहिये। यह बाह्य परीक्षा है। अधिकांश पाठकोंपर ग्रन्थविशेषका क्या असर हुआ यह देखकर ही ग्रन्थकी आन्तरिक परीक्षा की जाती है। किसी भी साधनसे क्यों न देखा जाय रामायणकी श्रेष्ठता ही सिद्ध होती है।''''रामचरितमानसके लिये यह दावा अवश्य है कि उससे लाखों मनुष्योंको शान्ति मिली है। जो ईश्वरविमुख थे वे ईश्वरके सम्मुख गये हैं और आज भी जा रहे हैं। श्रीरामचरितमानसमें स्त्रीजातिकी काफी निन्दा मिलती है, परन्तु उसी ग्रन्थद्वारा सीताके पुनीत चरित्रका भी हमें परिचय मिलता है। बिना सीताके राम कैसे? रामका यश सीताजीपर निर्भर है। सीताजीका रामजीपर नहीं। कौसल्या, सुमित्रा आदि भी मानसके पूजनीय पात्र हैं। शबरी और अहल्याकी भक्ति आज भी सराहनीय है। रावण राक्षस था मगर मन्दोदरी सती थी। ऐसे अनेक दृष्टान्त इस पवित्र भण्डारमेंसे मिल सकते हैं। मेरे विचारमें इन सब दृष्टान्तोंसे यही सिद्ध होता है कि तुलसीदासजी ज्ञानपूर्वक स्त्रीजातिके निन्दक नहीं थे। ज्ञानपूर्वक तो वे स्त्रीजातिके पुजारी ही थे। ('नवजीवन' से)

☞ जिसके दिलमें इस सम्बन्धकी शंकाएँ शुद्ध भावसे उठें उन्हें मेरी सलाह है कि वे मेरे या किसी औरके अर्थको मन्त्रवत् स्वीकार न करें। जिस विषयमें हृदय शंकित हो उसे छोड़ दें। सत्य, अहिंसादिकी विरोधिनी किसी वस्तुको स्वीकार न करें। रामचन्द्रने छल किया इसलिये हम भी छल करें, यह सोचना औंधा पाठ पढ़ना है। यह विश्वास रखकर कि रामजी कभी छल कर ही नहीं सकते, हम पूर्ण पुरुषका ही ध्यान करें और पूर्ण ग्रन्थका ही पठन-पाठन करें। परन्तु **'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता:'** न्यायानुसार सब ग्रन्थ दोषपूर्ण हैं, यह समझकर हंसवत् दोषरूपी नीरको निकाल फेंकें और गुणरूपी क्षीर ही ग्रहण

* यह लेख लगभग सन् १९२७ का है जो प्र० सं० में छपा था, उस समय ब्रिटिशराज्य था, तबकी यह बात है।

करें। इस तरह अपूर्णपूर्णकी प्रतिष्ठा करना गुण-दोषका पृथक्करण करना, हमेशा व्यक्तियों और युगोंकी परिस्थितिपर निर्भर रहेगा। स्वतन्त्र सम्पूर्णता केवल ईश्वरमें ही है और वह अकथनीय है। ('नवजीवन' से)

जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी—कवि जो दूसरोंके मुँहसे कहलाता है, वह उसकी उक्ति नहीं हो सकती। जो पात्र जैसा होता है उसके मुँहसे वैसी ही उक्ति करायी जाती है। अन्यथा होनेसे कविकी निन्दा होती है। पर आक्षेप करनेवाले यह बातें क्यों सोचने लगे? उन्हें तो गोस्वामीजीपर आक्षेपकर पाण्डित्य दिखाना है। अस्तु।

'मानस रामायण' की जिन पंक्तियोंके कारण गोस्वामीजीपर आक्षेप होता है, अब एक-एककर उनपर ही विचार करता हूँ। आशा है कि पाठक गोस्वामीजीके पक्षमें ही निर्णय करेंगे।

अच्छा सुनिये—*'कौने अवसर का भयेउ, गयेउँ नारि बिस्वास। जोग सिद्धि फल समय जिमि जतिहि अबिद्या नास॥'* *'गयेउँ नारि बिस्वास'* बस यही इसमें आक्षेपका कारण है। पर इससे गोस्वामीजीपर आक्षेप नहीं हो सकता, क्योंकि महाराजा दशरथकी उक्ति है और उस समयकी है जब कैकेयीने कहा था—*'सुनहु प्रानपति भावत जी का। देहु एक बर भरतहि टीका॥ माँगउँ दूसर बर कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी॥ तापस बेष बिसेष उदासी। चौदह बरिस राम बनबासी॥'*, *'चौदह बरिस राम बनबासी'* वाक्य राजा दशरथको बाण-से लगे। इसपर वह पश्चात्ताप कर कहते हैं *'गयेउँ नारि बिस्वास'*, अर्थात् इस नारी कैकेयीका विश्वासकर मैं फँस गया। इसका संकेत कैकेयीकी ओर है। सारे नारी-समाजकी ओर नहीं, क्योंकि वह कैकेयीका ही विश्वास कर फँसे और किसीका विश्वास कर नहीं। इसलिये गोस्वामीजीपर आक्षेप व्यर्थ है।

अब दूसरा दोहा लीजिये—*'काह न पावक जारि सक, का न समुद्र समाइ। का न करै अबला प्रबल, केहि जग काल न खाइ॥'* यहाँ भी वही हाल है। श्रीरामचन्द्र जब वन जानेको तैयार हो गये तब अयोध्यावासी आपसमें दुःखी हो बातचीत करते हैं। कोई कैकेयीको सब अनर्थोंका मूल बताकर गालियाँ देता है, कोई भाग्यको दोष देता है। मतलब यह कि सब ही अपनी समझके अनुसार कुछ-न-कुछ कहते हैं। उन्हीं दुःखी अयोध्यावासियोंकी उक्ति है कि *'का न करै अबला प्रबल'* अर्थात् स्त्रियाँ क्या नहीं कर सकती हैं—मतलब, सब कुछ कर सकती हैं। तुलसीदासजीने तो अयोध्याकी जनताका भाव प्रदर्शित किया है। फिर उनपर आक्षेप क्यों?

इसी प्रकार—*'सत्य कहहिं कबि नारि सुभाऊ। सब बिधि अगम अगाध दुराऊ॥ निज प्रतिबिंब बरुक गहि जाई। जानि न जाइ नारि गति भाई॥'* यह भी जनताकी उक्ति है; गोस्वामीजीकी नहीं।

'बिधिहु न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी॥'—यह भरतजीकी उक्ति है। ननसारसे आनेपर जब उन्होंने पिताका मरण और राम-लक्ष्मण-सीताका वनगमन सुना; तब शोकसे व्याकुल हो गये। जब मालूम हुआ कि इन अनर्थोंकी जड़ रानी कैकेयी ही है, तब तो वह हतबुद्धि हो माताको फटकारने लगे। माताको फटकारते-फटकारते नारी-समाजतकको फटकार डाला। क्योंकि क्रोधमें ऐसा होता ही है। आजकल भी किसीसे लड़ाई होती है तो एकके अपराधपर उसके सारे खानदान और जातिभरको गालियाँ सुननी पड़ती हैं। एक मारवाड़ी और एक बंगालीसे झगड़ा हो तो मारवाड़ी है न? इसीसे ऐसा कहता है। इसी तरह भरतजीने माताके गुस्सेपर सारी स्त्रियोंको कपटिन, पापिन और समस्त अवगुणोंकी खानि तक कह दिया तो क्या बुरा किया? इस स्वाभाविक वर्णनके हेतु गोस्वामीजीपर आक्षेप न कर उनकी प्रशंसा करनी चाहिये।

'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी॥' यह उक्ति भी समुद्रकी है। श्रीरामचन्द्रजीने जब धनुष चढ़ाया तब समुद्र *'बिप्र रूप आयो तजि माना।'* उसी समयकी यह उक्ति है। गोस्वामीजी यहाँ भी बाल-बाल बच गये। विस्तार-भयसे और अधिक न लिख यह लेख समाप्त करता हूँ। पर इतना और भी निवेदन कर देता हूँ कि यदि तुलसीदासजी स्त्रियोंके निन्दक होते तो कौसल्या, सुमित्रा, अनसूया, तारा, मन्दोदरीसे अच्छी-अच्छी उपदेशमय बातें न कहलाते। मेरी समझसे गोस्वामीजी महिला-समाजका जितना आदर करते थे उतना शायद आक्षेप करनेवाले भी न करते होंगे। (शिक्षा खण्ड ३० संख्या ३३ से)

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—इस अर्धालीको लेकर आजकल स्त्री-स्वातन्त्र्यके जमानेमें बड़ा विवाद खड़ा हो गया है। श्रीगोस्वामीजीपर लोग आक्षेप करने लग गये हैं। उन्हें समझना चाहिये कि सबसे पहिले

स्वामीजीने 'ढोल' शब्द क्यों रखा? ढोल एक आनन्ददायक वाद्य है, बड़ा प्रिय है, बड़े हिफाजतसे रखा जाता है, पर जब वह काम नहीं देता, और बिना ठोंके काम नहीं चलता, तो उसे काममें लानेके लिये ठोंका भी जाता है। स्वयं बृहदारण्यक श्रुति जो कहती है, वही पूज्यपाद गोस्वामीजी अति शिष्ट भाषामें कहते हैं। श्रुति कहती है—'**सा चेदस्मै न दद्यात्काममेनामवक्रीणीयात् सा चेदस्मै नैव दद्यात्काममेनां यष्ट्या वा पाणिना वोपहत्यातिक्रामेत्**॥'(६। ४। ७) इसपर भाष्यकार कहते हैं '**सा चेदस्मै न दद्यान्मैथुनं कर्तुं काममेनामवक्रीणीयादाभरणादिना ज्ञापयेत्। तथापि सा नैव दद्यात्काममेनां यष्ट्या वा पाणिना वोपहत्यातिक्रामेन्मैथुनाय।**' अर्थात् यदि वह (स्त्री) मैथुन न करने दे तो उसे गहना आदिक देकर मना ले। यदि इसपर भी न माने तो छड़ीसे या हाथसे ठोंक-ठाँककर ठीक कर ले। निःसंदेह यह उस समयकी बात है, जब स्त्रियाँ अति लज्जावती होती थीं, इस समय उसकी भी आवश्यकता नहीं है। पर यह चोद्य गोस्वामीजीपर नहीं है, यह तो वेदपर चोद्य है, वही इसका उत्तरदाता है और दे रहा है।

प० प० प्र०—इसमेंके शूद्र और नारी शब्दोंके लिये आजकलकी सुशिक्षित कहलानेवाली जनता गोस्वामीजीपर कड़ी आलोचना करती है। यदि वे पूरे ग्रन्थका अवलोकन करके उसका समन्वय करते तो यह आलोचना कभी न करते। 'पशु' शब्द बीचमें देकर कविने यह बात स्पष्ट कर दी है कि जो शूद्र पशुके समान व्यवहार करता है वह और जो नारी पशुके समान है वह ही ताड़नकी अधिकारी है। अन्यथा तुलसीदासजीने सीता, कौसल्या, सुनयना और अनसूया आदि पतिव्रताओंका जैसा वर्णन मानसमें किया है वैसा वे करते ही नहीं। चौपाईका अर्थ यह नहीं है कि इन पाँचोंको अहर्निश बिना कारण ही पीटा जाय। '**लालयेत् पञ्चवर्षाणि दशवर्षाणि ताडयेत्। प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रे मित्रमिवाचरेत्**॥' इस सुभाषितमें छठे वर्षसे सोलहवें वर्षतक पुत्रको ताड़नेका अधिकारी कहा है। वह जिस भावसे कहा है उसी भावसे सागरके इस वचनको समझना चाहिये। भाव यह कि वे पाँचों अपना हिताहित नहीं जानते, वचनोंसे समझानेपर मानेंगे नहीं। अतः वे दण्ड, शिक्षा, ताड़न करनेसे रास्तेपर आ जायें तो आ जायँ। शूद्रका अर्थ सेवक लेना ही उचित है।

श्रीलमगोड़ाजी—ऊपर लेखोंमें बड़े सुन्दर-सुन्दर विचार आ चुके हैं। इतनेपर भी आक्षेप बड़े जोरसे अब भी जारी है, यहाँतक कि बालिकाओंके एक कालेजमें झगड़ातक हो गया। इससे कुछ मैं भी लिखनेका साहस करता हूँ।

विश्वसाहित्यके नातेसे प्रथम यह कहना उचित है कि संसारके सुधारक कवियोंने स्त्रीके उस रूपकी निन्दा ही की है जिसमें वह हमारे पतन और विलासिताका कारण बनती है, पर सभीने सहधर्मिणी या मातारूपमें उसकी प्रशंसा ही की है। देखिये, फारसी भाषाके शेखसादी-जैसा कवि भी ताड़नाकी बात कहते हुए यहाँतक कह डालते हैं कि यदि स्त्री उसकी पात्र न होती तो *'ज़न रा मज़न नाम बूदे न ज़न'*, स्त्रीका नाम 'मज़न' (न मारो) होता न कि 'जन'(मारो)। पर वही कवि कहता है कि *'ख्वाही कि रज़ायहक बज़ोई। आँकुन कि रज़ाय मादरानस्त।'* अर्थात् यदि तू ईश्वरकी प्रसन्नता चाहता है तो वह कर जिसमें माता प्रसन्न हो। तुलसी भी माताको पितासे भी बड़ा मानते हैं—*'जानि बड़ि माता।'*

उपर्युक्त लेखोंमें देश, काल, पात्र और प्रसङ्गके अनुसार ही वाक्योंकी आलोचना करनेकी बात बड़े सुन्दररूपमें आ गयी है।

विश्वसाहित्यके नाते कहना पड़ता है कि हम कलाका ठीक आदर करना नहीं जानते, नहीं तो ऊपरके सिद्धान्त सामने रखते हुए कलाका आदर ही करते। कविवर शेक्सपियरने हैमलेट-जैसे पात्रसे कहलाया है—'Frailty thy name is woman' कमजोरी तेरा नाम ही स्त्री है। इससे अधिक कड़ी बात हो नहीं सकती। पर अमरीकाके एक साहित्यज्ञने इस पदकी इतनी सराहना की है कि यहाँतक कह डाला कि यदि यही एक पद रहे और शेक्सपियरके अन्य सारे साहित्यको सागरमें डुबा दिया जाय तो भी उसे संसारका बड़ा कवि कहा जायगा; कारण कि उपमाके एक अंगको जातिवाचक संज्ञाके स्थानमें गुणवाचक

संज्ञाका रूप देकर '**असीमता**' लाना साहित्यमें उसीने किया है। *'सुंदरता कहँ सुंदर करई'* के साथ इस वाक्यकी तुलना करते हुए मैंने विस्तारसे उस लेखमें लिखा है जो तुलसी-ग्रंथावलीमें छपा है, इसीसे यहाँ अधिक नहीं लिखता। ☞ हमें गुण भी देखना और सीखना चाहिये।

साहित्यके दृष्टिकोणसे गुण देखिये। भगवान् रामने किसी नीति-ग्रन्थका अवतरण दिया—(***भय बिनु होइ न प्रीति,*** इत्यादि)। उत्तरमें समुद्र भी ठीक वैसा ही करता है, पर दीपक अलंकारके साथ। इस अलंकारकी खूबी यही है कि एक शब्दसे दियासलाईकी तरह कई वाक्य दीपकोंकी तरह जल उठें। यहाँ एक *'ताड़न'* शब्दसे कितने वाक्य बन जाते हैं। धन्य हैं कवि!

भाई! जितने ही एक दूसरेसे विपरीत शब्दोंके साथ एक शब्द निभ सके उतना ही उत्तम यह अलंकार होता है। तुलसीका ही दूसरा उदाहरण आप देख चुके हैं—*'युवती शास्त्र नृपति बस नाहीं॥'*

हाँ, इस अलंकारकी व्याख्यामें बहुधा बड़े-बड़े विद्वान् धोखा खा जाते हैं। उदाहरणार्थ देखिये रायबहादुर लाला श्यामसुन्दरदासजीने *'बस'* शब्दका युवतीके साथ प्रयोग होनेके कारण, सम्भवतः वाल्मीकीयके प्रसंगसे प्रभावित होनेके कारण यह कह दिया कि श्रीरामजीकी वैसी शंका श्रीसीताजीके प्रति अनुचित थी और यह न सोचा कि तुलसीदासजी वाल्मीकिजीसे बाजी मार ले गये। कारण कि आगे श्रीसुग्रीवके मुखसे *'पर बस परी बहुत बिलखाता'* कहला *'बस'* की व्याख्या कर दी और कोई शब्द भी श्रीरामजीके मुखसे ऐसा नहीं कहलाया कि इसकी और कोई व्याख्या हो सके। फिर वह वाक्य भी पशु (हाथी) के मुँहमें रखा है और वह भी *'मानहु'* की उत्प्रेक्षाके साथ। हम प्रतिदिन बुझव्वल बुझाते हैं कि एक वाक्यमें उत्तर दो—'घोड़ा क्यों अड़ा? पान क्यों सड़ा और रोटी क्यों जली?' उत्तर—फेरा न गया। अब बताइये, क्या पानका फेरना और घोड़ेका फेरना एक तरहका होता है?

भाई, ढोल और स्त्रीकी ताड़ना एक तरहकी नहीं होती। ताड़नका अर्थ *'नियमबद्ध'* (Disciplined) ही है। संस्कृत सभ्यतामें ५ वर्षसे १६ वर्षतक बालककी ताड़ना भी तो कही गयी है। क्या उसका अर्थ है कि हर समय पीटा करे? फिर प्रसंग भी तो स्त्रीका नहीं है। मसल (कहावत) कहनेमें कुछ अंश फाजिल (बिना प्रयोजनका) हो तो कौन-सी मुश्किल (कठिनता) है। 'ये तीनों अपने नहीं, सूजी सुवा सुनार', यदि किसीके मुखसे तोतेके काटनेके समय निकले, विशेषकर जब वह उसे चारा खिला रहा हो तो सुनारकी निन्दाका दोष लगाना (जब कि वहाँ सुनार हो भी नहीं) बुद्धिमानी नहीं।

अब जरा *'अधिकारी'* शब्दपर विचार कीजिये। गौड़जीके विचार बड़े सुन्दर हैं पर उन्होंने *'अधिकारी'* शब्दको श्रीरामजीकी ओर मोड़ दिया है।

समुद्र रामराज्यके शासननियमपर मुग्ध है। वह जानता है कि वहाँ ताड़न (दंड) उद्धार और शिक्षाके लिये होता है, इसीसे वह कहता है कि यदि वैसी सुन्दर ताड़ना न हो तो मानो अधिकार (Privilege, right) छीना जा रहा है। भागवतमें भी कालिय नागके ताड़ित होनेपर उसकी पत्नियाँ कहती हैं—'आप जो किसीको दण्ड देते हैं तो उसके पापोंका प्रायश्चित्त कराने और उसका परम कल्याण करनेके लिये ही। (भागवतांक पृष्ठ ७०५)। इस अध्यायका शीर्षक भी है *'कालिय नागपर कृपा'।* समुद्रका कथन इसी रूपमें है और अपना पश्चाताप प्रकट करनेके लिये है।

पर मर्यादावाली बात (*'मरजादा पुनि तुम्हरिहि कीन्हीं')* साथ कहनेसे इसमें एक सुन्दर और मर्म चुटकीका मजा भी है। इसमें *'परिस्थिति व्यंग'* (Circumstantial humour) है। यद्यपि समुद्रका यह आशय नहीं है तथापि जिस परिस्थितिमें बातें कही गयी हैं उससे राजा रामकी चुटकी भी हो गयी। मानो उससे ध्वनि यह निकली कि हम तो दण्डके अधिकारी हैं ही पर आप भी तो क्षणिक क्रोधावेशमें अपनी ही बनायी हुई मर्यादाको तोड़ना चाहते हैं। क्या यह उचित है? इस प्रकार तो कुशल कवि बात ही और की और कर देता है; मानो हमें सिखाता है कि *'खेल खेलके नियमानुसार ही होना चाहिये'* (Play the game within the rules of the game) घोड़ेको ढाईघरसे अधिक चलकर मात देना शातिरकी

चतुराई नहीं गिनी जाती।

इसीलिये भगवान्‌के लिये आगे ही दोहेमें आया है *'कह कृपाल मुसुकाइ।'* (इस मुस्कानपर व्यंग और हास्यकला स्वयं निछावर है)। *'सत्य'* के साथ *'शील'* का प्रयोग समुद्रने किया और श्रीरामका क्रोध काफूर हो गया। धन्य है भावमर्मज्ञता और नाटकी कलाका चरित्रसंघर्ष!

मैंने पहले तुलसीदासजीकी उस शैलीकी ओर ध्यान आकर्षित किया है जिसके द्वारा नाटकीय कलाके सहारे वे प्रत्येक विषयपर अनेक दृष्टिकोणके विचार प्रकट कर देते हैं। स्त्रीके सम्बन्धमें भी वैसा ही है। यदि आप वैसे प्रत्येक प्रसंगका देश, काल, पात्र और परिस्थितिके साथ मनन करें और सब विचारोंको एकत्रित कर लें तो एक शास्त्र-सा ही बन जावे। निर्णय भी बड़ी सुगमतासे करते हैं। देखिये, मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामका निर्णय कि एक ओर तो विश्वकल्याणके लिये महादेवजीका व्याह कराते हैं और दूसरी ओर नारदको व्याहसे रोक देते हैं और पूछनेपर कहते हैं कि *'मोह बिपिन कहँ नारि बसंता॥'* फिर वानरराज वालीको डाँटते समय तो साफ कहा कि *'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना॥'* (देखिये, स्त्रीशिक्षक रूप भी तो)। हाँ! सुधारक कवि चेतावनी बराबर देता रहता है, कारण कि स्वयं भुगत चुका है; और अंतमें कैसी बाग मोड़ता है—*'कामिहि नारि पियारि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम। तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥'*—यह है अंतिम प्रार्थना रामायणकी।

'कंचन' और 'कामिनी' ही बहुधा पतनका कारण होते हैं। कुशल कविने यहाँ भी बाजी मार ली। कहावतको उलटकर उन्होंने इन दोनोंमेंसे कामिनीको ही पहला स्थान दिया है।

नं० प०—भाव यह है कि जो कोई इन पाँचोंपर शासन नहीं करेगा वह इनसे सुख नहीं उठावेगा।

प्रभु प्रताप मैं जाब सुखाई। उतरहि कटकु न मोरि बड़ाई॥ ७॥
प्रभु अग्या* अपेल श्रुति गाई। करौं† सो बेगि जो तुम्हहि सोहाई॥ ८॥

अर्थ—हे प्रभो! आपके प्रतापसे मैं सूख जाऊँगा सेना उतर जायगी। इसमें कुछ मेरी बड़ाई नहीं है अर्थात् मेरी मर्यादा न रह जायगी॥ ७॥ आपकी आज्ञा अपेल है (जिसका उल्लंघन नहीं किया जा सकता) ऐसा श्रुतियाँ कहती हैं। अब आपको जो अच्छा लगे वही शीघ्र कीजिये॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) समुद्रने यह कहा कि आपके प्रतापसे मैं सूख जाऊँगा इत्यादि, पर मार्ग न बताया, न उतरनेका उपाय बताया। इसका तात्पर्य यह कि जो आपकी आज्ञा मुझे मिल चुकी है उसे कैसे भङ्ग करूँ? आपकी आज्ञा कोई नहीं टालता तब मैं कैसे टाल सकता हूँ? (ख) प्रताप सूर्य है अथवा भारी बड़वानल है, यथा—*'प्रभु प्रताप बड़वानल भारी। सोखेउ प्रथम पयोनिधि बारी॥'* (६। १। २)‡

टिप्पणी—२ प्रभुकी आज्ञा अपेल है, अतएव मैंने आपकी आज्ञा पालन की। जैसी मुझ जड़को आज्ञा रही है, वैसा मैं अबतक करता रहा, मैंने आजतक किसीको मार्ग नहीं दिया। अब यह आज्ञा होती है कि मार्ग दो, नहीं तो सोख लेंगे, तो जैसा आपको रुचे वैसा आप करें। तात्पर्य कि मैं आपकी इस आज्ञाका पालन नहीं कर सकता, अब आपको जो पसन्द हो वह कीजिये—चाहे अपना वचन रखिये, चाहे मिटाइये। दोनोंका एक साथ पालन कैसे हो सकता है? या तो जड़ ही रहूँ या चेतन, या तो पूर्वकी आज्ञाका उल्लङ्घन करूँ, अबकी आज्ञाको मानूँ; या इस समयकी आज्ञाका उल्लङ्घन करूँ पहिलेकी मानूँ, दोमें एक ही हो सकता है।

टिप्पणी—३—*'श्रुति गाई'* का भाव कि वेद तो आज्ञाको अपेल कहते हैं, उसी आज्ञाको आप भङ्ग

* अग्या—(भा० दा०)। आज्ञा—(ना०प्र०)

† करइ—(ना० प्र०) करौं-ब्र० चं०।

‡ दीनजी—प्रताप भानुवत् तप्त माना जाता है। अतएव 'प्रताप' से समुद्रको सोख लेना कहा जाना बहुत ही सुन्दर प्रयोग है। ब्र० चं०—'प्रभु·······' (८) पायकुलक, 'उतरहि·······' चण्डी।

करनेको कहते हैं, जिससे वेदमर्यादा मिटती है। अतएव कहा कि जो अच्छा लगे वही कीजिये, चाहे वेदमर्यादाकी रक्षा कीजिये चाहे उसे मिटाइये। चाहे मेरी मर्यादा रखिये चाहे मुझे सुखाकर सेनाको पार उतारिये। जो आज्ञा रही वह अबतक की, जो अब हो वह अब करूँ; क्योंकि आपकी आज्ञा कोई मिटा नहीं सकता। समुद्र जानता है कि ये ईश्वर हैं, मर्यादापुरुषोत्तम हैं, सबकी मर्यादाकी रक्षा करना उनको सुहाता है, इसीसे उसने ऐसे वचन कहे। हृदयमें ज्वाला उठी है इसीसे *'करौं सो बेगि'* कहा। अर्थात् इस बाणको तुरन्त शान्त कीजिये; यह असह्य हो रहा है।

दो०—सुनत बिनीत बचन अति कह कृपाल मुसुकाइ*।
जेहि बिधि उतरइ कपि कटकु तात सो कहहु उपाइ॥ ५९॥

अर्थ—सागरके अत्यन्त विनम्र वचन सुनकर कृपालु श्रीरामजी मुस्कुराकर बोले—हे तात! जिस प्रकार कपिकटक पार उतरे वह उपाय कहो॥ ५९॥

टिप्पणी—१(क) *'अति बिनीत'।* प्रभु किंचित् विनयको भी *'अति'* मानते हैं, यथा—*'सुनि कृपाल अति आरत बानी। एक नयन करि तजा भवानी॥'* (३। २। १४) *'सुनत राम अति कोमल बानी। बालि सीस परसा निज पानी॥'* (४। १०। १) तथा यहाँ *'अति बिनीत।'* (ख) *'कृपाल मुसुकाइ'* इति। यहाँ मुस्कुराकर समुद्रको अपनी कृपालुता दरसायी—*'हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥'* (१। १९८) जिसमें वह अभय हो जाय क्योंकि शरणको अभय देना प्रभुका प्रण है, यथा—**'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥'** (वाल्मी० ६। १८। ३४) *'मम पन सरनागत भयहारी।'* (४३। ८) अथवा समुद्रकी चतुरता देखकर मुस्कुराये कि अपनेको कहता तो जड़ है और उत्तर देता है पण्डितकी तरह, सब ग्रन्थों और श्रुतियोंका प्रमाण देता है, यथा—*'सृष्टि हेतु सब ग्रंथन्हि गाये', 'अज्ञा अपेल श्रुति गाई।'* † [इस मुस्कानसे सागरके हृदयमें प्रादुर्भूत, ऐश्वर्यभावको दबाकर जागृत की गयी। इसीसे *'तात'* शब्दका प्रयोग किया गया और सिंधु भी आगे इसी भावसे *'करिहउँ बल अनुमान सहाई'* कहता है। इसी भावसे मुसकानके प्रसङ्ग १। १९२ छंद ३, २। १२८। १, १। २१५। ७ देखिये। (प० प० प्र०)]।

टिप्पणी-२ (क) श्रीरामजी अपने भक्त विभीषणका वचन मानकर समुद्रसे सेनाके उतरनेका उपाय पूछते हैं, यथा—*'प्रभु तुम्हार कुलगुरु''''।'* (ख) *'कृपाल'* कहनेका भाव कि प्रथम कोप किया था, अब कोप छोड़कर कृपाल हुए। यह कृपा मुसकान द्वारा प्रकट की। (ग) *'जेहि बिधि उतरई कपि कटकु''''* ' इति। समुद्रने कहा है कि *'उतरहि कटकु न मोरि बड़ाई।'* इसीपर श्रीरामजी कहते हैं कि जिस प्रकार सेना उतरे और तुम्हारी बड़ाई रहे वही उपाय कहो। यहाँतक प्रभु विभीषणके वचनपर आरूढ़ हैं, इसीसे समुद्रसे उपाय पूछते हैं।

नाथ नील नल कपि द्वौ भाई। लरिकाईं रिषि आसिष पाई॥ १॥
तिन्हके परस किए गिरि भारे। तरिहहिं जलधि प्रताप तुम्हारे‡॥ २॥

अर्थ—हे नाथ! नील और नल दोनों वानर भाइयोंने लड़कपनमें ऋषिसे आशीर्वाद पाया है॥ १॥ उनके स्पर्शसे ही भारी-भारी पर्वत आपके प्रतापसे समुद्रपर तैरेंगे॥ २॥

टिप्पणी—(क) पहले ही स्पष्ट करके सब बात कही जिसमें कुछ पूछना न पड़े—नील नलसे नाम,

---

* मा० त० सु०—दोहेके विषम चरणोंमें १३ और सम चरणोंमें ११ मात्राएँ होती हैं और पहले एवं तीसरे चरणोंके आदिमें जगण नहीं होता। इस दोहेके प्रथम और तीसरे चरणोंमें एक-एक मात्रा कम होनेसे यह 'दोही' छन्द कहलाता है। इसके और भी उदाहरण इसी काण्डमें हैं, यथा—बार-बार पद लागौं बिनय करौं दससीस''''''—दो० ५६ में भी देखिये। ब्र० चं० के मतानुसार यहाँ दोहरा दोहा मिश्रित है।

† मा० त० सु०—मुसकानेका भाव कि तीन दिन तो मुझसे प्रार्थना करायी, अब शरण आकर अपराध क्षमा कराते हो, यदि प्रथम ही विचार किया होता तो तुम्हारी पूर्ण मर्यादा भी बनी रहती और सारी सेना भी पार हो जाती।

‡ ब्र० चं०—(१) 'तिन्ह' पायकुलक, 'तरिहहिं''''' चण्डी।

कपिसे जाति, दोउ भाईसे परस्पर सम्बन्ध और एक साथ रहना जनाया। नीलको प्रथम कहकर बड़ा बताया और नलको छोटा। यथा—*'राम लषन दसरथ के ढोटा।'* (१। २६९। ७), *'नाम राम लछिमन दोउ भाई।'* (४। २। २) *'नाथ बालि अरु मैं दोउ भाई।'* (४। ६) (ख) *'लरिकाईं'* पद देकर सूचित किया कि ये अनुचित करते थे। लड़कपनकी अवस्थामें इन्होंने लड़कपन वा अज्ञानमें ऋषिका अपराध किया। ऋषिका स्नान करनेवाला पत्थर डुबो दिया। [ये दोनों भाई ऋषियोंकी शालग्राममूर्तियोंको लेकर जलमें डाल दिया करते थे। त्रिकालज्ञ महर्षियोंने उनको शाप न दिया वरन् अपना प्रयोजनसाधक और भावी समुद्रबन्धन रूप कार्य देख शापके व्याजसे ऐसा वरदान दिया।] (ये विश्वकर्माके पुत्र हैं)। पुनः भाव यह कि बात बालपनेकी है, नील, नलको भी स्मरण नहीं, और भी कोई नहीं जानता, मैं जानता हूँ क्योंकि मैं जलस्वरूप हूँ और मुनिने जलहीमें पाषाण न डूबनेका आशीर्वाद दिया था। (ग) *'रिषि आसिष'* का भाव कि ऋषिका वचन असत्य नहीं हो सकता। जो पत्थर ये डुबोवें वह न डूबे, यह आसिष है। (घ) *'पाई'* का भाव कि यह आशीर्वाद ऋषिकी सेवा करके नहीं प्राप्त किया गया, अकस्मात् ही उनको प्राप्त हो गया। न तो ऋषिने प्रसन्न होकर यह वर दिया और न इनके सामने। परोक्षमें कह दिया कि उसके स्पर्शसे पत्थर न डूबे, वह आसिष इनको प्राप्त हो गया। (ङ) यदि कहते कि उन वानरोंने उनको दुःख दिया तो 'शाप' पद देते, वह शाप आशीर्वादसदृश हो गया, जिससे श्रीरामजीकी सेवा बनी और जगत्‌में यश हुआ, अतएव उसे आसिष कहा। अथवा शापित वस्तु न ग्रहण करना चाहिये इससे *'आसिष'* कहा।

नोट—१ अ० रा० में केवल नलको वरकी प्राप्ति कही है। यथा—'**नलः सेतुं करोत्वस्मिन् जले मे विश्वकर्मणः। सुतो धीमान् समर्थोऽस्मिन्कार्ये लब्धवरो हरिः॥**'(६। ३। ८४) अर्थात् विश्वकर्माका पुत्र चतुर नल वरके प्रभावसे मेरे जलपर सेतुका निर्माण करे।

टिप्पणी—२(क) **गिरि भारे**=पर्वतसमूह, भारी-भारी पर्वत। (ख) *'प्रताप तुम्हारे।'* यहाँ शङ्का होती है कि 'जब नीलनलके स्पर्शसे गिरिसमूह तरेंगे तब प्रभुकी इसमें बड़ाई और प्रताप क्या? और यदि प्रभुके प्रतापसे तैरे तो ऋषि-आसिषकी चर्चा ही क्या?' समाधान यह है कि नील और नलके स्पर्शसे समुद्रमें पर्वत तैरेंगे और प्रभुप्रतापसे जहाँ वे जलमें डाले जायँगे वहीं स्थिर रहेंगे, उनपरसे अपार सेना चलेगी, डूबेगी नहीं। ऋषिका आशिष ऐसा नहीं है कि एक जगह स्थिर रहेंगे, हिलें-डोलेंगे नहीं और सब पुल-सरीखे एकत्र रहेंगे। यह प्रभुप्रताप है यथा—*'महिमा यह न जलधि कै बरनी। पाहन गुन न कपिन्ह कै करनी। श्रीरघुबीर प्रताप तें सिंधु तरे पाषान॥'*(६। ३)

मा० त० सु०—*'प्रताप तुम्हारे'* का भाव कि ऋषियोंसे शाप दिलवाकर और उनके हाथोंसे समुद्र बँधवाकर कपि-सेनाका पार होना यह आपहीका प्रभाव है। ६० (३) भी देखिये।

मैं पुनि उर धरि प्रभु प्रभुताई। करिहौं बल अनुमान सहाई॥ ३॥
एहि बिधि नाथ पयोधि बँधाइअ। जेहि एह सुजसु लोक तिहुँ गाइअ*॥ ४॥

अर्थ—फिर मैं भी हृदयमें प्रभुकी प्रभुता धारण करके बलके अनुकूल सहायता करूँगा॥ ३॥ हे नाथ! इस प्रकार समुद्रको बँधवाइये जिससे तीनों लोकोंमें आपका यह सुन्दर यश गाया जाय॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'मैं पुनि'* यह गहोरादेशकी बोली है। यहाँ पुनिका कुछ अर्थ नहीं होता। **मैं पुनि**=मैं। यहाँ भी पुनिका और कुछ अर्थ नहीं है। यथा—*'मैं पुनि पुत्रबधू प्रिय पाई।'* (२। ५९। १), *'मैं पुनि करि प्रमान पितु बानी।'*(२। ६२। १), *'मैं पुनि गयउँ बंधु सँग लागा।'* (४। ६। ४) तथा यहाँ *'मैं पुनि·····'*। [अथवा, यहाँ *'पुनि'* शब्द समुच्चयार्थक है जिससे 'भी' का अर्थ निकलता है। प्रसङ्गवश इससे और भी अर्थ हो सकते हैं। (मा० त० सु०)] (ख) *'उर धरि प्रभु प्रभुताई'* का भाव कि मुझमें सहायता करनेकी योग्यता या सामर्थ्य नहीं है, आपकी प्रभुताका बल है। आपकी प्रभुतासे जैसा बल मिलेगा उसीके अनुमानसे सहायता कर सकूँगा।

* ब्र० चं०—(३) पायकुलक, 'एहि·····' ११५७। 'जेहि·····' ११८३ वाँ भेद।

[आशय यह कि प्रथम जो प्रभुत्व मैं हृदयमें धारण किये हुए था वह माधुर्य्य देखकर विस्मृत हो गया था, उसे अब पुनः हृदयमें धारणकर बलके अनुसार पार होनेमें जलचरादिद्वारा भी सहायता करूँगा। (मा० त० सु०)] (ग) *'करिहौं बल अनुमान सहाई'* इति। क्या सहायता करेंगे? यह कि जलको स्थिर रखूँगा, ज्वारभाटा लहर न होने पायेगी। बड़े-बड़े जीव जलपर उतरायेंगे; उनपर वानर चढ़कर पार जायेंगे। (घ) पहले वचनसे सहायता की कि *'नील नल'''* और अब शरीरसे सहायता करनेको कहता है।

शीला—काष्ठकी नाव जलपर अवश्य तैरती है पर यदि उसपर बेप्रमाण बोझा रख दिया जाय तो वह डूब ही जायगी। वैसे ही भारी पर्वत तैरेंगे पर जब उनपर वानर सेनाका बोझ पड़ता तब वे रसातलको चले जाते। इस बोझको आपका प्रताप सँभालेगा और मेरी लहरोंका झोंका इसमें न लगेगा जिससे सब पर्वत एकत्र जुड़े रहेंगे।

टिप्पणी—२ *'यह सुजस लोक तिहुँ गाइअ।'* यथा—*'तिहुँ पुर नारदादि जस गैहहिं'।* भाव कि इस सेतुका सुयश भवसागरमें कई सेतु तैयार कर देगा जिसपर चढ़कर जीव भवपार होंगे, यथा—*'जग पावनि कीरति बिस्तरिहहिं। गाइ गाइ भवनिधि नर तरिहहिं॥'* (६। ६५। ३) *'त्रैलोक पावन सुजसु सुर मुनि नारदादि बखानिहैं॥', 'जो सुनत गावत कहत समुझत परम पद नर पावई।'*(४। ३०)

नोट—१ सेतु बाँधनेसे क्या यश होगा? एक तो यह कि चार सौ कोसका पुल समुद्रमें जलके ऊपर बाँध दिया, ऐसा असम्भव कार्य कोई न कर सका। दूसरे, आगे चलकर जब बड़े-बड़े राजा दिग्विजय करते हुए यहाँ आयेंगे, तब वे भी आपके यशका गायन करेंगे। यथा—**'बघ्नीहि सेतुमिह ते यशसो वितत्यै गायन्ति दिग्विजयिनो यमुपेत्य भूपाः।'**(भा० ९। १०। १५) इस असम्भव कार्यके होनेसे सब लोग आपकी संसारमलापहारिणी कीर्ति जान जायँगे। यथा—**'कीर्तिं जानन्तु ते लोकाः सर्वलोकमलापहाम्।'** (अ० रा० ६। ३। ८५)

एहि सर मम उत्तर तट बासी। हतहु नाथ खल नर अघरासी॥५॥
सुनि कृपाल सागर मन पीरा। तुरतहि हरी राम रनधीरा*॥६॥

अर्थ—इस बाणसे मेरे उत्तरतटवासी पापके राशि दुष्ट मनुष्योंको मारिये॥ ५॥ सागरके मनकी पीर (पीड़ा, दुःख, दर्द) सुनकर कृपालु और रणधीर श्रीरामजीने उसे तुरंत हर लिया॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'एहि सर मम''''''* इस वाक्यसे ज्ञात होता है कि श्रीरामजीने उससे पूछा था कि 'हमारा बाण अमोघ है, यह निष्फल नहीं हो सकता, इसको हम कहाँ सफल करें?' तब समुद्रने इनको बताया। यथा—**'अमोघोऽयं महाबाणः कस्मिन्देशे निपात्यताम्। लक्ष्यं दर्शय मे शीघ्रं बाणस्यामोघपातिनः॥'** (अ० रा० ६। ३। ७९) अर्थात् मेरा यह बाण व्यर्थ जानेवाला नहीं। इसे किस देशमें चलाऊँ? शीघ्र मुझे इस बाणका लक्ष्य बताओ।☞ अ० रा० में पहले बाण चलाकर उत्तरतटवासियोंका नाश किया गया, पीछे समुद्रने सेतु बाँधनेकी युक्ति बतायी है। मानसमें क्रम उलटा है। श्रीरामजी पापी और खलोंका वध करते हैं। उन्होंने *'तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं।'* (३। १९। ९) यह उत्तर खरदूषणादिको दिया था और वालीको पापी कहकर मारा था—*'इन्हहिं कुदृष्टि बिलोकइ जोई। ताहि बधे कछु पाप न होई॥'* (४। ९। ८) अतः कहा कि उत्तरतटपर पापराशि खल रहते हैं, आपको उनका वध करना उचित है, इस बाणसे उन्हें मारिये।

नोट—१ वाल्मी० में सागरने बताया है कि यहाँसे उत्तर दिशामें द्रुमकुल्यनामक हमारा एक सुविख्यात पुण्य स्थान है। वहाँपर उग्रस्वभावयुक्त क्रूर कर्म करनेवाले पापाचारी बहुतसे आभीर चोर रहते हैं और हमारा जल पान करते हैं।—**'आभीरप्रमुखाः पापाः पिबन्ति सलिलं मम।'** (६। २२। ३३) (आभीर=महाशूद्र। इनकी संख्या साठ हजार थी।) उनके जलस्पर्शसे जो पाप होता है, उसे मैं नहीं सह सकता। यह बाण आप वहीं छोड़िये। वह बाण प्रभुने वहाँ छोड़ा, तबसे वह स्थान मरुकान्तार नामसे प्रसिद्ध हुआ। श्रीरामजीने उस भूमिको सुखाकर फिर उसे वर दिया कि 'यहाँ विशेषकर रोग न होंगे,यह देश फल-फूलयुक्त वृक्षों आदिसे परिपूर्ण रहेगा' (वाल्मी० ६। २२। २९—३९)।

---

* पायकुलक—(ब्र० चं०)।

टिप्पणी—२(क) *'सुनि कृपाल सागर मन पीरा'* से जनाया कि उसने अपना सब दुःख कह सुनाया था। कविने थोड़ेमें ही जना दिया। [*'मन पीरा'*-मनकी पीड़ा एक तो यह थी कि वे जलको अपवित्र कर देते थे, उनका पाप अपने ऊपर आता है। दूसरे, यह कि वे रात-दिन बराबर समुद्रको पीड़ा पहुँचाते थे। जोड़का श्लोक अ० रा० में यह है—'**रामोत्तरप्रदेशे तु द्रुमकुल्य इति श्रुतिः॥ प्रदेशस्तत्र बहवः पापात्मानो दिवानिशम्। बाधन्ते मां रघुश्रेष्ठ तत्र ते पात्यतां शरः॥**'(६। ३। ८१-८२)] 'पीर' सुनकर तुरत कृपा करके उसे दूर की, इसीसे 'कृपाल' कहा।—*'करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइअहिं पीर पराई॥'*(२। ८५। २) (ख) *'तुरतहि'* का भाव कि समुद्रने प्रार्थना की थी कि शीघ्रता कीजिये, मुझसे बाणकी ज्वाला सही नहीं जाती, यथा—*'करौं बेगि जो तुम्हहिं सोहाई'*/ इसीसे तुरंत बाण छोड़कर, बाणके तेज-प्रतापसे जो उसका हृदय जल रहा था और शत्रुओंद्वारा जो उसके मनमें पीड़ा थी दोनोंसे उसे निवृत्त किया। (ग) यहाँ रणधीरा विशेषण और आगे *'देखि राम बल पौरुष भारी'* कहकर जनाया कि उत्तरतटवासी खल बहुत प्रबल थे। ☞ भगवान् अपने शरणका सब दुःख दूर करते हैं और तुरत ही। समुद्र शरण आया, अतः उसका दुःख सुनकर तुरत उसे दूर किया। कैसे भी अपराध किया हो शरण होनेपर क्रोध नहीं करते, कृपा ही करते हैं, *'मैं जानौं निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोप न काऊ॥'* और रामकृपाका फल तत्क्षण देख पड़ता है।

देखि राम बल पौरुष भारी। हरषि पयोनिधि भयउ सुखारी॥७॥
सकल चरित कहि प्रभुहि सुनावा। चरन बंदि पाथोधि सिधावा*॥८॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीका भारी बल और पुरुषार्थ देखकर समुद्र हर्षित होकर सुखी हुआ॥ ७॥ सारा चरित कहकर प्रभुको सुनाया और चरणोंकी वन्दना करके समुद्र चला गया॥ ८॥

टिप्पणी—१(क) *'बल पौरुष'* बल शरीरका जो धनुष खींचनेसे प्रकट हुआ और आभीरोंके वधसे पुरुषार्थ जाना। [अध्यात्ममें लिखा है कि बाणने जाकर एक क्षणमें ही समस्त आभीरोंका नाश किया और फिर पूर्ववत् तर्कशमें आ प्राप्त हुआ। यही बल और पुरुषार्थ है। प्रमाण—'**रामेण सृष्टो बाणस्तु क्षणादाभीरमण्डलम्। हत्वा पुनः समागत्य तूणीरे पूर्ववत् स्थितः।**' (अ० रा० ६। ३। ८२-८३) (ख) यहाँ अपात्र और पात्र-शरणागति दिखायी। प्रभुका समुद्रकी शरण जाना अपात्र-शरणागति है। इसीसे प्रभुने अपात्रसेवनका फल लोगोंको दिखाया। और समुद्रद्वारा पात्र-शरणागति दिखायी कि कितना ही अपराध करनेपर भी शरण जानेपर प्रभुने उसके क्लेशको दूर कर दिया। (मा० त० सु०)] (ग) *'हरषि भयउ सुखारी'* का भाव कि श्रीरामजीकी माधुर्य लीला देखकर पहले संदेह हो गया था, वह सन्देह बल और पौरुष देखकर दूर हुआ। हर्ष हुआ और मनकी पीड़ा दूर हुई, अतः सुखी हुआ। अथवा, *'हरषि'*=प्रीति करके—'**मुत्प्रीतिः प्रमदो हर्षः' इत्यमरः**। तात्पर्य कि रामजीमें प्रीति करके सुखी हुआ। (घ) जितना हर्ष *'बल पौरुष'* देखकर हुआ उतना अपने शत्रुओंके नाशसे उसको नहीं हुआ। इसीसे शत्रुनाशमें यही कहा कि *'सुनि कृपाल सागर मन पीरा। तुरतहि हरी'''* अर्थात् उसके मनकी पीड़ा दूर हुई, इतना ही कहा; 'हरषित हुआ' ऐसा वहाँ नहीं कहा। 'हर्ष' बल-पौरुष देखनेपर ही हुआ।

पं० विजयानन्द त्रिपाठी—*'सकल चरित'* इति। अपना काम हो जानेपर, समुद्रने सब चरित्र कह सुनाया। भाव यह कि रघुपति दूत विचारकर जिस समुद्रने उनके विश्रामके लिये मैनाकको भेजा, वही समुद्र सरकारकी तीन दिनोंतक विनतीकी उपेक्षा करे, यह कैसे सम्भव है। पर समुद्रने उपेक्षा की और तबतक की जबतक कि सरकारने क्रोध करके शरसन्धान नहीं किया। शरसन्धान करनेपर शरण आये और शरका लक्ष्य उत्तर-तटवासी अघराशि मनुष्योंको बताया, जिनसे समुद्रको बड़ी पीड़ा थी, क्योंकि सरकारका शरसन्धान व्यर्थ जा नहीं सकता। अर्थात् समुद्रने यह चरित जान-बूझकर किया। कहाँ तो सरकारकी चढ़ाई लंकापर है और कहाँ यह विनय करना कि उत्तर-तटवासी पापियोंको मारकर तब आगे बढ़िये, किसी तरहसे उपयुक्त नहीं। लंका-

* 'देखि''''' स्वागता, शेष पायकुलक

विजय करके लौटनेके समय भरतजीसे मिलनेकी जल्दी रहेगी, वह समय भी ऐसे विनयके लिये उपयुक्त अवसर न ठहरेगा, इसलिये समुद्रने यह नाटक रचा। कार्यसिद्धि होनेपर सरकारसे सब भेद खोल दिया।

टिप्पणी—२ *'सकल चरित',* उत्तर-तटवासियों और रावणके नगरका। पहले क्यों न सुनाया था? कारण कि उसने सोचा कि हमारे कुलके हैं, लंकामें जाते हैं, न जाने इनमें बल-पुरुषार्थ है या नहीं, राक्षस इन्हें जीत या खा न लें—इसीसे पहले न सुनाया, अब पुरुषार्थ और बल देखनेपर सुनाया।

टिप्पणी—३-उपक्रममें मन-कर्म-वचन दिखा आये, यहाँ उपसंहारमें भी—मनसे सुखी हुआ, वचनसे शत्रुचरित्र कहा और चरणोंकी वन्दना करके घर चला गया यह कर्म है।

नोट—१ *'चरन बंदि पाथोधि सिधावा',* यथा—**'इत्युक्त्वा राघवं नत्वा ययौ सिन्धुरदृश्यताम्।'** (अ० रा० ६। ३। ८५) अ० रा० में वह अन्तर्धान हो गया।

(हरिगीतिका)

छंद—निज भवन गवनेउ सिंधु श्रीरघुपतिहि यह मत भायऊ।
यह चरित कलिमलहर जथामति दास तुलसी गायऊ॥
सुख-भवन संसय-समन दवन-बिषाद रघुपति गुनगना।
तजि सकल आस भरोस गावहि सुनहि संतत सठ मना॥

अर्थ—समुद्र अपने घर गया। श्रीरघुनाथजीको यह मत अच्छा लगा। यह चरित कलिके पापोंका हरनेवाला है, मुझ तुलसीदासने अपनी बुद्धिके अनुसार इसे गाया(कहा)। श्रीरघुपतिके गुणगण सुखके धाम, संशयके शमन (शान्त,नाश) करनेवाले और दु:खके दमन (दबाने वा नष्ट) करनेवाले हैं। अरे शठ मन! सब आशा-भरोसा छोड़कर इन्हें निरन्तर गा और सुन।

टिप्पणी—१(क) *'निज भवन गवनेउ'* से सूचित हुआ कि समुद्रके अधिष्ठातृ देवताके रहनेका कहीं स्थान है। यदि जलमें रहता होता तो कहते कि समुद्रमें प्रवेश किया, क्योंकि श्रीरामचन्द्रजी समुद्रतटपर ही हैं, *'गवनेउ'* न कहते। (ख) *'श्रीरघुपतिहि यह मत भायऊ।'* पूर्व कहा था कि *'अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा। यह मत लछिमन के मन भावा॥'* इसीसे यहाँ कहा कि श्रीरघुनाथजीको वह मत न भाया था, यह भाया। समुद्रकी मर्यादा रखनेसे उनकी शोभा है। इसीसे यहाँ 'श्री' पद दिया। [*'यह मत भायऊ'* का भाव कि इससे लक्ष्मणजीकी बात भी रह गयी, समुद्रकी मर्यादा भी रह गयी और अब नील-नल आदिका यश भी विख्यात होगा तथा सागरमें सेतु बाँधनेका यश संसारमें फैलेगा। (मा० त० सु०)]

टिप्पणी—२ यहाँ इस सोपानकी समाप्ति है, इसीसे इसका माहात्म्य कहते हैं। *'जथामति'* से चरितकी अनन्तता जनायी, यथा—*'निज मति सरिस नाथ मैं गाई' 'रघुपतिकृपा जथामति गावा।'* कलिमलहर अर्थात् जो पापी हैं उनको शुद्ध करता है। आगे भक्तोंका कृतार्थ होना कहते हैं। (*'गायऊ'* का भाव कि इसके रचयिता श्रीशङ्करजी हैं, मैंने हिंदी भाषामें छन्दबद्ध करके वर्णन किया)।

टिप्पणी—३ *'मलहर'* से कलियुगका फल कहा,यथा—*'मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।'* सुख कर्मका फल है, यह त्रेतामें प्रधान है, यथा—*'सब बिधि सुख त्रेता कर धर्मा।'*(७। १०४। २) अत: *'सुख भवन'* शब्दसे त्रेताका फल कहा। संशयका शमन होना ज्ञानका फल है, यह सत्ययुगका धर्म है, यथा—*'कृतजुग सब जोगी बिग्यानी।'*(७। १०३। १) विषादका नाश भगवान्‌की पूजाका फल है, यह द्वापरमें प्रधान है, यथा—*'द्वापर करि रघुपतिपदपूजा।'* (७। १०३) यहाँ चार प्रकारका माहात्म्य कहकर जनाया कि रामचरित चारों युगोंके फलको प्रदान करता है।

टिप्पणी—४ यहाँ फलश्रुतिमें तीन आवृत्तियाँ कहीं। कलियुगका धर्म रामचरितगान है, (और कोई धर्म इस युगमें नहीं रह गये। अन्य धर्मको कलिने ग्रस लिया। यथा—*'धर्म सकल कलिकाल ग्रसे।'*), जिसका फल *'कलिमलहर'* है। गोस्वामीजी कलियुगमें हुए, इसीसे उन्होंने अपने वर्तमान युगका धर्म प्रथम

कहा। इति प्रथमावृत्तिः। ज्ञानीके लिये सुखभवन और जिज्ञासुके लिये संशयशमन है। आर्त्तके लिये विषाददमन है और अर्थार्थीके लिये सकल सुमङ्गलदायक है। चारों भक्त मोक्ष नहीं लेते। जो मुमुक्षु हैं उन्हें भवसिंधुपार करता है, इति द्वितीयावृत्तिः। *'तजि सकल आस भरोस'* अर्थात् लोक-परलोक दोनोंके पदार्थोंकी आशा छोड़कर, निष्काम होकर गाये-सुने। अथवा, इहलोकमें किसीका आशा-भरोसा न करे, संतत रामचरित कहे-सुने, इसके कहने-सुननेमें अनध्याय न करे। इति तृतीयावृत्तिः। [मनको शठ कहनेका भाव कि बार-बार उपदेश करनेपर भी यह अपनी मूढ़ता नहीं छोड़ता, यथा—*'मेरो मन हरिजू हठ न तजै। निसिदिन नाथ देउँ सिख बहुबिधि करत सुभाउ निजै॥'* इत्यादि। संतत, यथा—*'रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहिं। संतत सुनिअ रामगुनग्रामहिं।'* (७। १३०। ६) निरन्तर इसीमें डूबे रहो।]

प० प० प्र०—यह 'चरित' में सुन्दरकाण्डका पूरा चरित्र और विशेषतः *'सागर निग्रह चरित्र'* दोनों ही आ गये। दोनों ही कलिमलके हरनेवाले हैं।

प० प० प्र०—(क) *'तजि सकल आस भरोस गावहि सुनहि'* यह अनन्य, साधनहीन शरणागतोंके लिये है। यथा—*'बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे। जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव।'* (७। १३। ३) (ख) *'संतत'* का भाव कि सतत (निरन्तर) गाने-सुननेसे श्रीरामजी हृदयमें निवास करेंगे। यथा—*'जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥ भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्हके हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे।'* (ग) *'तजि सकल''''मना'* की फलश्रुति आगे दोहेमें कहते हैं—*'सादर सुनहिं ते तरहिं भव''''।'*

दो०—सकल सुमंगलदायक रघुनायक गुन गान।
सादर सुनहिं ते तरहिं भव सिंधु बिना जलजान*॥ ६०॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजीका गुणगान समस्त सुन्दर मङ्गलोंका देनेवाला है। जो इसे आदरसहित सुनते हैं वे बिना किसी जलयान (जहाज आदि जलमें चलनेवाली सवारियों) के भवसागर तर जाते हैं॥ ६०॥

टिप्पणी—१ अपनी इति लगाकर अब यहाँ भक्तोंकी इति लगाते हैं। *'सकल सुमंगल'* से अर्थ, धर्म और कामका दाता और *'भव तरहिं'* से मोक्षदाता, अर्थात् चारों पदार्थोंका दाता जनाया। पुनः, इस लोकमें सकल सुमंगलदायक है और परलोकमें भवपार करता है।

टिप्पणी—२ *'बिना जलजान'* का भाव कि भवसमुद्र सूख जाता है, वा थाह हो जाता है, वा भवसिंधुको ऐसे तर जाते हैं मानो उसमें जल नहीं है—उस सिंधुको बिना जलका जानो इस प्रकार तर जाते हैं। यथा—*'नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं'* और *'एहि महँ रघुपतिनाम उदारा'* है ही।

टिप्पणी—३ प्रथम गाना, सुनना दोनों लिखा—*'गावहि सुनहि संतत सठ मना'* अब दोनोंका पृथक्-पृथक् फल कहते हैं। *'सकल सुमंगलदायक'* गुणगानका फल है और *'ते तरहिं भवसिंधु बिना जलजान'* सादर श्रवणका फल है।

☞ यहाँ समुद्र उतरनेका प्रसङ्ग है। अतएव ग्रन्थकारने समुद्र उतरनेके प्रसङ्गमें काण्डकी समाप्ति की। रघुनायकने अपने जनोंके उतरनेके लिये समुद्रमें सेतु बाँधा और रघुनायकगुणगान बिना जलयानके पार कर देता है। रघुनायकको श्रम उठाना पड़ा, यथा—*'सेतु हेतु श्रम कीन्ह न थोरा',* और गुणगान बिना परिश्रम पार करता है, यथा—*'नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं'* तात्पर्य कि रामगुणगान श्रीरामजीसे अधिक काम करता है, रामगुणगानमें ज्ञान है; ज्ञान होनेपर भव नहीं रह जाता; अज्ञानदृष्टिमें भव है।

प० प० प्र०—अयोध्याकाण्डमें कहा है कि *'सकलसुमंगल मूल जग रघुबर चरन सनेह॥'* (२। २०७) अर्थात् श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें स्नेह समस्त सुमंगलोंको देनेवाला है और यहाँ कहते हैं कि *'सकल सुमंगलदायक रघुनायक गुनगान।'* इस तरह सूचित किया कि *'तजि सकल आस भरोस'* सतत गाने-सुननेसे श्रीरामचरणस्नेह होगा जिससे शर-चाप-धर श्रीरामजी हृदयमें निवास करेंगे।

* ब्र० चं०—दोहरा दोहा मिश्रित है।

प० प० प्र०—इस काण्डमें ६० दोहोंका रखना भी साभिप्राय है। सप्तसोपानोंकी समता सप्तपुरियोंसे दी गयी है। बाल० मं० श्लोक ७ देखिये। इस तरह यह काण्ड काञ्चीपुरी और किष्किन्धा काशीपुरी हुआ। किष्किन्धारूपी शिवपुरीमें ३० दोहे दिये हैं। सुन्दरकाण्डरूपी काञ्चीपुरीमें शिवकाञ्ची हनुमत्-चरित है और विष्णुकाञ्ची रामचरित है। शिवकाञ्ची शिवपुरी ही है। और काशी-शिवपुरीमें ३० दोहे दिये हैं। अत: हनुमत्-चरित शिवकाञ्चीमें भी ३० दोहे दिये। ***'पवनतनयके चरित सुहाए। जामवंत रघुपतिहि सुनाए॥'*** (३०। ८) तक यह चरित है। शिव-विष्णु-प्रभेद-भावसे विष्णुकाञ्ची-श्रीरामचरितको भी ३० दोहोंमें कहा। इस कारण ६० दोहोंमें यह काण्ड समाप्त किया।

टिप्पणी—४ ***'पुनि सर्बग्य सर्ब उर बासी'*** से यहाँतक ***'सागर-निग्रह कथा सुनाई'*** यह प्रसङ्ग है। —सुन्दरकाण्डमें भुशुण्डिजीने १२ प्रसङ्ग कहे। वे यहाँ समाप्त हुए।

सुन्दरकाण्ड और उसके विस्तारपर विचार

मा० हं०—'इस काण्डके विस्तारका भी विचार होना चाहिये। अध्यात्म और वाल्मीकिरामायणमें सुन्दरकाण्ड कथाक्रम सीताशोधतक ही रखा है,परंतु स्वामीजीके सुन्दरकाण्डका कथाक्रम सागर-निग्रहतक बढ़ गया है। बढ़ाये हुए कथानक (यानी सैन्यका सागराक्रमण, विभीषणशरणागति, विभीषणराज्य-दान और सागर-निग्रह) स्वामीजीको सीताशुद्धि सदृश ही रसीले दिखे हों, अथवा अन्य रामायणोंके युद्धकाण्डके समान उनका लंकाकाण्ड विस्तृत न हो, ऐसे कोई-न-कोई विचारके कारण उन्होंने (=यह उनकी?) अपनी लंकाकाण्डकी योजना दिखायी है। उस तरह ही काण्डके बढ़ने-घटनेका हमें महत्त्व नहीं। असलमें महत्त्वकी बात उनका विचार स्वातन्त्र्य है। अन्तमें इतना ही कथन है कि स्वामीजीके सुन्दरकाण्डके दो विभाग होते हैं—पूर्वार्द्ध सीताशोधतक और उत्तरार्द्ध सागर-निग्रहतक। स्वामीजीके सुन्दरकाण्डका अनुष्ठान इस विभागविचारसे होना चाहिये या नहीं इसका निश्चय अनुष्ठाता स्वयं ही कर लेंगे।'

२ रा० प०—'सुन्दरकाण्ड नाम पड़ा क्योंकि उत्तर और दक्षिण ध्रुवके दो तारे हैं। उत्तर सुमेरु है जिसकी नकल दक्षिणमें लंका है। सुमेरुके तीन शिखर हैं। वैसे ही यहाँ त्रिकूट है, इनके नाम नील, सुन्दर और सुबेल हैं। नील शिखरपर नगर बसा है, सुन्दरपर अशोकवाटिका बनी और सुबेलपर रणभूमि है। यह मेरु उपमेरु तन्त्रमें कहा है। इस काण्डकी प्रधान लीला सुन्दर शिखरसे प्रारम्भ हुई, अतः सुन्दर नाम पड़ा। इसी प्रकार अयोध्यामें प्रधान कार्य प्रारम्भ होनेसे अयोध्याकाण्ड नाम पड़ा।'

☞ उपर्युक्त दोनों विषयोंपर पूर्व लेख आ चुके हैं। काञ्चीपुरीके दो विभाग होनेसे सुन्दरकाण्डरूपी काञ्चीपुरीके भी दो विभाग हुए यह ऊपर बताया गया है। श्रीशिवजीरचित रामचरितमानस रामायणमें भी सुन्दरकाण्ड पञ्चम सोपानकी कथा यहींतक होगी, इसीसे हिन्दी-भाषाबद्ध रामचरितमानसमें भी वैसा रखा गया।

(प० पं० प्र०)

उपक्रम	उपसंहार
१ **निर्वाण शान्ति प्रदं** (मोक्ष और प्रेमाभक्तिदाता)	१ ***'तरहिं भवसिंधु'*** (मोक्ष), ***'सुमंगलदायक'*** (प्रेमाभक्तिदायक)
२ **भक्तिं प्रयच्छ** (मं० श्लोक २)	२ श्रीहनुमान्जी और विभीषणजीको अनपायिनी भक्ति मिली।
३ बाल० मं० श्लो० ५ सुन्दरकाण्डका प्रतिनिधिरूप है, यह सुं० मं० श्लो० १ पृष्ठ ४ में लिखा जा चुका है। यह उपसंहारसे भी सिद्ध हुआ है। उपक्रममें '**सर्वश्रेयस्करी**' है, वही उपसंहारमें ***'सकल सुमंगलदायक'*** है। प्रथम श्रीसीताजीने ही हनुमान्जीको '**सुत**' बनाया और भक्ति दी। श्रीसीताजी ही विभीषणजीको भक्तिप्राप्तिका कारण हुईं।	
४ **भक्ति प्रयच्छ** (यहाँ भक्तिकी याचना)	४ भक्तिका साधन ***'तजि आस'''गुन गान'***
५ ***कामादि दोष रहितं कुरु मानसं***	५ ***'कलिमल हर', 'संसय समन दमन बिषाद'***
६ मं० श्लो० १ में श्रीरामचरित, श्लो० २ में विभीषणचरित और श्लो० ३ में श्रीहनुमत्-चरित सूचित किया।	६ काण्डमें व्यतिक्रम ये तीनों चरित हैं। प्रथम हनुमान्जी, फिर विभीषणजी तब श्रीरामचरित कहा गया।

इति श्रीरामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने ज्ञानसम्पादनो नाम पञ्चमः सोपानः समाप्तः।

अर्थात् श्रीरामचरितमानसका कलिके सम्पूर्ण पापोंका नाश करने और ज्ञान प्रदान करनेवाला पञ्चम सोपान समाप्त हुआ।

श्रीसीतारामभक्तार्पणमस्तु।

श्रीहनुमते नमः। श्रीरामभक्तिभगवन्तगुरुचरणकमलेभ्यो नमः॥

श्रीरामं रामभक्तिञ्च रामभक्तांस्तथा गुरून्। वाक्कायमनसा प्रेम्णा प्रणमामि पुनः पुनः॥

सब मिलि कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि तुम्हहिं भजौं दिन राती॥

मनकी सकल बासना भागै। सीतारामचरण लौ लागै॥

बार बार माँगौ कर जोरे। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरे॥

श्रीराम जय राम जय जय राम।

——०○——

* श्रीसीताराम *

मानस-पीयूष

खण्ड-६

षष्ठ सोपान (लङ्काकाण्ड)

सर्वसिद्धान्तसमन्वित तिलक

श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीकी रामायणपर काशीके सुप्रसिद्ध रामायणी पं० श्रीरामकुमारजी, पं० रामवल्लभाशरणजी महाराज (व्यास), श्रीरामायणी रामबालकदासजी एवं श्रीमानसी बंदन पाठकजी आदि साकेतवासी महानुभावोंकी अप्राप्य और अप्रकाशित टिप्पणियाँ एवं कथाओंके भाव; बाबा श्रीरामचरणदासजी (श्रीकरुणासिन्धुजी), श्रीसंतसिंहजी पंजाबी ज्ञानी, देवतीर्थ श्रीकाष्ठजिह्वस्वामीजी, बाबा श्रीहरिहरप्रसादजी (सीतारामीय), श्रीहरिदासजी पांडे, श्रीरामबख्शजी, पं० श्री शिवलाल पाठजी, श्रीबैजनाथजी आदि पूर्व मानसाचार्यों, टीकाकारोंके भाव, मानसराजहंस पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी तथा प० प० प्र० श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वतीजीके अप्रकाशित टिप्पण; आजकलके प्रायः समस्त टीकाकारोंके विशद एवं सुसंगत भाव तथा प्रो० श्रीरामदासजी गौड़ एम्० एस्-सी०, प्रो० लाला भगवानदीनजी, प्रो० पं० रामचन्द्र शुक्लजी, पं० यादव शंकरजी जामदार रिटायर्ड सबजज, श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजी, श्रीनागा परमहंसजी (बाबा श्रीअवधबिहारीदासजी) और बाबा जयरामदास दीनजी आदि स्वर्गीय तथा वेदान्तभूषण, साहित्यरत्न पं० राजकुमारदासजी आदि आधुनिक मानसविज्ञोंकी आलोचनात्मक व्याख्याओंका सुन्दर संग्रह।

सम्पादक

श्रीअञ्जनीनन्दनशरण

॥ श्रीसंतभगवन्तगुरुचरणकमलेभ्यो नमः॥

प्रथम संस्करणका वक्तव्य

लङ्काकाण्डका 'मानस-पीयूष' तिलक श्रीसीतारामजीकी कृपासे अनेक विघ्न पड़नेपर भी श्रीगुरुपूर्णिमापर प्रेमी पाठकोंके करकमलोंमें पहुँच गया। इसके लिये पूज्यपाद कृपालु गुरु भगवान् अनन्त श्रीरूपकलाजीको धन्यवाद है; क्योंकि वस्तुतः उन्हींकी गरीयसी आज्ञा और शुभाशिषका यह फल है। अब उत्तरकाण्ड और 'मानस-पीयूषकी भूमिका' उनकी कृपासे शीघ्र प्रकाशित होनेकी आशा है।

'मानस-पीयूष' एक संग्रहमात्र है जिसमें पाठक एक ही स्थानपर समस्त रामायणियोंके भावोंका अवलोकन कर सकें और स्वयं उनपर विचार भी कर सकें। जहाँ-तहाँ मैंने अपने विचार भी पाठकोंके आग्रहसे दे दिये हैं।

प्राचीन पोथियोंमें पाठ-भेद होनेसे यही उचित समझ पड़ा कि भागवतदासजीकी पोथीसे पाठ मूलमें दूँ और अन्य पोथियोंका पाठ पाठान्तरमें दे दूँ। पर टीकामें गौड़जीके गुटकासे उदाहरण दिये हैं।

इस लङ्काकाण्डके लिखते समय मुझे एक नवीन बातका पता लगा जिसे मानसप्रेमियोंपर प्रकट कर देना परमावश्यक है। वह है टेकारीके श्रीमान् बाबू रणबहादुरसिंहजीद्वारा—पं० श्रीमातृदत्त सहगौर त्रिपाठी तथा पं० ललिताप्रसाद ओझा आदि पण्डितोंसे २७ वर्षतक सम्पादन कराकर—गंगाधर प्रेस, रायबरेलीसे प्रकाशित की हुई 'तुलसीकृत रामायणकी टीका' की पोल। मैंने बहुत विद्वानोंद्वारा इस पुस्तककी प्रशंसा सुनी थी, इसलिये सुन्दरकाण्डतक इसी पुस्तकसे संस्कृतके समानार्थी श्लोकोंके अधिकांश उद्धरण दिये थे। परन्तु लङ्काकाण्ड लिखनेके पूर्व उक्त पुस्तकका लङ्काकाण्ड प्रकाशित नहीं हुआ था, इसलिये मैंने स्वयं विभिन्न पुस्तकोंको पढ़कर उनसे समानार्थी श्लोकोंके उद्धरण दिये। इधर कुछ दिनोंके बाद जब उक्त पुस्तकका लङ्काकाण्ड प्रकाशित हो गया, तब मैंने उसे मँगवाकर उन स्थलोंके समानार्थी श्लोकोंको देखना आरम्भ किया; जिनके समानार्थी श्लोक मुझे ढूँढ़नेसे नहीं मिले थे। तब उक्त पुस्तककी पोल मुझे ज्ञात हुई। मैंने देखा कि बहुतेरे उद्धृत श्लोकोंपर उन्हीं पुस्तकोंके नाम दिये हुए हैं, जिनमें मुझे उनके समानार्थी श्लोक नहीं मिले थे—तब तो मैंने उस पुस्तककी गहरी छान-बीन प्रारम्भ की। जिससे यह पता लगा कि उस पुस्तकमें लगभग ७५ प्रतिशत श्लोक अपनी ओरसे गढ़कर लिखे गये हैं। मैंने बाबू बजरङ्गबलीजीद्वारा मन्त्रीजी (जिन्होंने वह टीका मेरे पास भेजी थी) के पास पत्र भेजा कि वाल्मीकि आदिके छपे हुए संस्करणोंमें श्लोक नहीं मिलते, आपने किन संस्करणोंसे दिये हैं—पर उन्होंने कुछ उत्तर न दिया जिससे मेरा संदेह दृढ़ हो गया कि ये श्लोक गढ़े हुए हैं।

श्लोकोंके अतिरिक्त जो पादटिप्पणियाँ उसमें हैं, वह भी अन्य टीकाओंकी अविकल नकल हैं। काण्ड-के-काण्डकी नकल एक ही टीकासे कर ली गयी है। उदाहरणस्वरूप अयोध्याकाण्डमें अक्षरशः नकल विनायकीटीका और किष्किन्धाकाण्डमें पं० राजकुमारजीकी टीकासे की गयी है। मैं यहाँपर कुछ गढ़े हुए श्लोकोंको उद्धृत करता हूँ—

लं० पृ० ३ में—अध्यात्मे—'**ततो रामस्तु सुग्रीव [जामवन्तौ समाह्वयत्। युवां सेतो विरचने विलम्बेथेऽधुना कथम्]।**

प्र० ८—वाल्मीकीये—**केचिद्वैहायसगताः सुपर्णा इव पुप्लुवुः।** (२२। ८१) **[वारिचारिण आरुह्य कैश्चित्तीर्णः सरित्पतिः।]**

इसके आगे चार-पाँच श्लोक सब गढ़े हुए हैं।

पृ० २९ हनुमन्नाटके—**[अनुशासनमुपलभ्य दूता अंगदमाहूयानीतवन्तः]**

उपर्युक्त उद्धरणोंमें जितना अंश कोष्ठकान्तर्गत है वह अपनी ओरसे गढ़ा गया है। स्थानाभावके कारण मैंने कुछ ही श्लोक उद्धृत किये हैं। पाठकोंको चाहिये कि उक्त पुस्तकका एकदम विश्वास न करें; क्योंकि मूल पुस्तक अवलोकन किये बिना यह ज्ञात होना असम्भव है कि कौन-कौनसे श्लोक गढ़े गये हैं और कौन-कौनसे श्लोक मूल पुस्तकोंके हैं। इस काण्डमें जो श्लोक मेरे चुने हुए हैं उनका पूरा पता दिया हुआ है। इसके अतिरिक्त पं० रामकुमारजीके खर्रोंमेंके श्लोक भी दिये गये हैं, क्योंकि मुझे पूर्ण विश्वास है कि वे श्लोक गढ़े हुए नहीं हैं, जैसा कि अधिकांशकी परीक्षासे मुझे ज्ञात हुआ है।

७४ (१) पृष्ठ ६०४ में मूल पाठ 'सो' और ७४ (१५) पृष्ठ ६०९ में 'सर' शुद्ध पाठ है। प्रेसकी असावधानीसे अशुद्ध छप गया है।—सम्पादक

दूसरे संस्करणके दो शब्द

शरीरकी जिस रुग्ण और जर्जर-अवस्थामें 'मानस-पीयूष' के इस नवीन परिमार्जित तथा अत्यन्त परिवर्द्धित संस्करणके लेखन तथा प्रकाशन-कार्यका आरम्भ हुआ था, उससे कौन आशा कर सकता था कि यह महान् सेवा इस शरीरसे पार लग जायगी।

प्रेमी पाठकोंका हृदय भी धक-धक हो रहा था। वे भगवान्‌से प्रार्थना करते और इस दासको आशीर्वादके पत्र भेजा करते थे कि यह महान् कार्य श्रीसीता-रामकृपासे शीघ्र सम्पन्न हो जाय।

श्रीगुरु-हनुमत्कृपा तथा प्रेमी महानुभावोंके आशीर्वादसे ही यह सेवा अब पार लगी दीखती है। लङ्काकाण्ड प्रेमियोंकी सेवामें भेंट किया जा रहा है और उत्तरकाण्डका छपना प्रारम्भ हो गया। अतः आज दासके चित्तमें आह्लाद हो रहा है। दास उन समस्त शुभेच्छुक प्रेमियों तथा महात्माओंको हृदयसे धन्यवाद देता है।

यह संस्करण नाममात्रको ही दूसरा है। वस्तुतः इसका पूरा ढाँचा ही बदल गया है और इसमें मानसराजहंस पं० विजयानन्द त्रिपाठी तथा प० प० प्र० स्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वतीजीके अप्रकाशित टिप्पणों तथा श्रीनंगे परमहंसजी, वे० भू० पं० रामकुमारदासजी आदिके प्रकाशित लेखोंका भी समावेश कर दिया है।

इस संस्करणमें वाल्मीकीयके जो नये श्लोक दिये गये हैं वे पं० द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदीके छपाये हुए संस्करणसे दिये गये हैं और उनमें 'च० सं०' संकेत दे दिया गया है। इस काण्डकी समाप्तिके साथ ही इसके प्रकरणों तथा सङ्केताक्षरोंकी सूची भी बना दी गयी है और कुछ विशेष काममें आनेवाले विषयों तथा शब्दोंकी अनुक्रमणिका भी छपा दी है। यह अनुक्रमणिका पाठकोंके विशेष कामकी होगी या नहीं, यह मैं नहीं कह सकता, जैसी हृदयमें उरप्रेरककी प्रेरणा हुई वैसी ही लिख दी गयी है। इससे अपनेको एक लाभ यह अवश्य होगा कि आगे इनकी पुनरुक्ति न हो। शीघ्रताके कारण विषयोंकी तालिका जैसी चाहिये थी वैसी बृहत् नहीं बन सकी।

इस संस्करणके विषयोंकी सूची बनाते समय अचानक जहाँ-जहाँ शुद्धियों पर दृष्टि पड़ गयी, उनका शुद्धिपत्र बना दिया है।

इस काण्डके अन्तिम प्रूफ देखते समय श्रीबजरङ्गबली गुप्त विशारद फार्मको स्वयं आदिसे अन्ततक पढ़ लेते थे, इसी विश्वासपर मैं एक ही बार प्रूफ देखकर छपनेका आर्डर देता रहा; यद्यपि बहुधा प्रूफ आर्डरके योग्य न होता था। अब देखनेसे पता चला कि लङ्काकाण्डका अन्तिम प्रूफ उन्होंने अधिक रुग्ण हो जानेके कारण दूसरोंपर छोड़ दिया। छापनेवालोंने भी बहुत असावधानी दिखलायी है। मात्राएँ तो इतनी टूटी हैं कि कुछ कहा नहीं जाता और यत्र-तत्र अक्षर भी टूटे और घिसे हुए हैं। उनको सोचना चाहिये था कि इससे प्रेसकी अपकीर्ति होगी। शुद्धिपत्रमें केवल कुछ अशुद्धियोंका हमने संशोधन किया है।

श्रीसीतारामानुरागियोंका सेवक,

अञ्जनीनन्दनशरण

सातवें संस्करणका निवेदन

पू० श्रीअञ्जनीनन्दनशरणजी महाराजने मानस-पीयूषके अधिक प्रचारकी इच्छासे अपना वर्तमान पूरा स्टाक तथा उसके पुनर्मुद्रण तथा विक्रय आदिके सर्वाधिकार स्वेच्छापूर्वक गीताप्रेस, गोरखपुरको प्रदान कर दिये। जिसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं। जो-जो खण्ड जैसे-जैसे समाप्त होते जायँगे, वैसे-वैसे ही उनके पुनर्मुद्रणकी व्यवस्था करनेकी बात है। इसीके अनुसार यह सातवाँ संस्करण प्रकाशित किया गया है।

प्रकाशक—गीताप्रेस, गोरखपुर

संकेताक्षरोंकी तालिका

अ०—अयोध्याकाण्ड, अध्याय

अ० ८, २। ८—अयोध्याकाण्डका दोहा ८ या उस दोहेकी चौपाई

अ० दी०—मानस-अभिप्राय दीपक

अ० दी० च०—मानस-अभिप्राय दीपक चक्षु

अ० रा०, अ० र०—अध्यात्मरामायण

अमर०—अमरकोष

आ०—अरण्यकाण्ड

आ० ८, ३। ८—अरण्यकाण्डका दोहा ८ या उसकी चौपाई

आ० रा०—आनन्दरामायण

उ०—उत्तरकाण्ड, उत्तरखण्ड, उपनिषद्

उ० ११, ७। ११—उत्तरकाण्डका दोहा ११ या उसकी चौपाई

क०—कवितावली

कठ०—कठोपनिषद्

करु०—श्रीकरुणासिंधुजीकी 'आनन्दलहरी' टीका

कल्याण—गीताप्रेसका मासिक पत्र

का०—काशिराजकी पोथी

कि०—किष्किन्धाकाण्ड

को० रा०—कोदवरामजीका गुटका

खर्रा—पं० रामकुमारजीके प्रथम टिप्पण

गी०—गीतावली

गीता—श्रीमद्भगवद्गीता

गौड़जी—प्रो० श्रीरामदास गौड़जी एम्० एस्-सी०के अप्रकाशित टिप्पण।

चौ०

छ०—लाला छक्कनलाल

छा०—छान्दोग्योपनिषद्

जा० दा०—बाबा जानकीदासजीके टिप्पण 'भावप्रकाश' से उद्धृत

टिप्पणी—पं० पुरुषोत्तमदत्तसे प्राप्त पं० रामकुमारजीके हस्तलिखित टिप्पण

तैत्ति०, तै०—तैत्तिरीयोपनिषद्

दो०—दोहा, दोहावली

द्वि०, रा० गु० द्वि०—पं० रामगुलाम द्विवेदी

नं० पं०—श्रीअवधबिहारीदास (श्रीनागा परमहंस)जी

ना० प्र०—नागरीप्रचारिणीसभाका मूल पाठ

नृ० पु०—नृसिंहपुराण

नोट—प्राय: पं० रामकुमारजी और अन्य महानुभावोंके विशेष भाव तथा सम्पादकीय विचार। महानुभावोंके भावोंके अन्तमें उनके नाम कोष्ठकमें दिये गये हैं।

पं०, पंजाबीजी—श्रीसंतसिंह पंजाबीजीकी टीका पं० रा० ब० श०—पं० श्रीरामवल्लभाशरणजीकी कथाके अथवा तुलसीपत्र आदिके लेखोंसे लिये हुए टिप्पण

प० पु०—पद्मपुराण

प० प० प्र०, प्र० स्वामी—श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वतीजी

पां०, पांडेजी—मुं० रोशनलालकी टीका

पु० रा० कु०, पं० रा० कु०—पुरुषोत्तमजीसे प्राप्त पं० रामकुमारजीके हस्तलिखित टिप्पण

प्र० सं०—मानसपीयूषका प्रथम संस्करण

बं० पा०—श्रीमानसी बन्दन पाठकजीके हस्तलिखित टिप्पण

बा० ८, १। ८ बालकाण्डका दोहा ८ या उसकी चौपाई

वि०, विनय—विनयपत्रिकाका पद।

वै० सं०—वैराग्यसंदीपनी।

भ० गु० द०—भगवद्‌गुणदर्पण श्रीबैजनाथजीकी टीकासे

भा०—श्रीमद्भागवत

भा० दा०—श्रीभागवतदासजीकी हस्तलिखित पोथी

मं० श्लो०—मङ्गलाचरणका श्लोक

मं० सो०— ,, सोरठा

मा० त० प्र०—श्रीचण्डीप्रसादसिंहकृत मानसतत्त्वप्रबोधिनी

मा० म०—मानसमयंककी टीका

मा० मु० ट०—मानसमुक्तावली टीका

मा० शं०—श्रीमन्मानसशंकावली (श्रीमहादेवदत्तकृत)

मा० सं०—मानसपीयूषका सम्पादक

मुण्ड, मुं०—मुण्डकोपनिषद्

मा० हं०—श्रीयादवशंकरजी रिटायर्ड सबजजकृत तुलसी-रहस्य

यजु०—यजुर्वेद

यु०—युद्धकाण्ड

रा० चं०—केशवदासजीकृत रामचंद्रिका

रा० प०—रामायणपरिचर्या

रा० प्र०—रामायण परिचर्यापरिशिष्ट प्रकाश

रा० बा० दा०—श्रीरामायणी रामबालकदासजी

रा० शं० श०—श्रीरामशंकरशरण व्यास

लं० लङ्काकाण्ड

वाल्मी०—वाल्मीकीय

वि० टी०—विनायकी टीका

वि० त्रि०—पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी

वीर—पं० महाबीरप्रसाद मालवीय 'वीरकवि'

वे० भू०—वेदान्तभूषण पं० राजकुमारदासजी

वै०—श्रीवैजनाथजीकी टीका

श० सा०—हिंदी शब्दसागर (कोष)

श० सुं० दा०—बाबू श्यामसुंदरदासजीकी टीका

शीला—बाबा हरीदासजीकी शीलावृत्त टीका

शु० ला०—पं० शुकदेवलालकी टीका

श्वे०—श्वेताश्वतरोपनिषद्

सि० ति०—सिद्धान्ततिलक। इस टीकामें मानसपीयूष प्र० सं० के रुपयेमें साढ़े पंद्रह आने चोरी है। सन् १९४७ से इसका बेचना और छपाना जुर्म है। जो उसमें नवीन भाव हैं वे इसी नामसे दिये गये हैं।

सुं०—सुन्दरकाण्ड

सु० र० भा०—सुभाषित रत्नभाण्डागार

हनु०, हनु० ना०—श्रीहनुमन्नाटक

[ ] ( ) कोष्ठकान्तर्गत लेख प्राय: सम्पादकीय हैं जहाँपर किसीका नाम नहीं दिया गया है।

स्मरण रहे कि इस काण्डके उद्धरणोंमें हमने प्राय: लं० या '६' न देकर केवल दोहेकी संख्या अथवा दोहे और उस दोहेकी चौपाईकी संख्या दी है। जैसे ११०। ५= लङ्काकाण्डके दोहा ११० की पाँचवीं चौपाई। इसी तरह वाल्मी० और अ० रा० के युद्धकाण्ड सर्ग और श्लोकमात्रकी संख्या दी है।

बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर और उत्तरकाण्डोंके लिये क्रमश: १, २, ३, ४, ५ और ७ सूचक अंक दिये गये हैं।

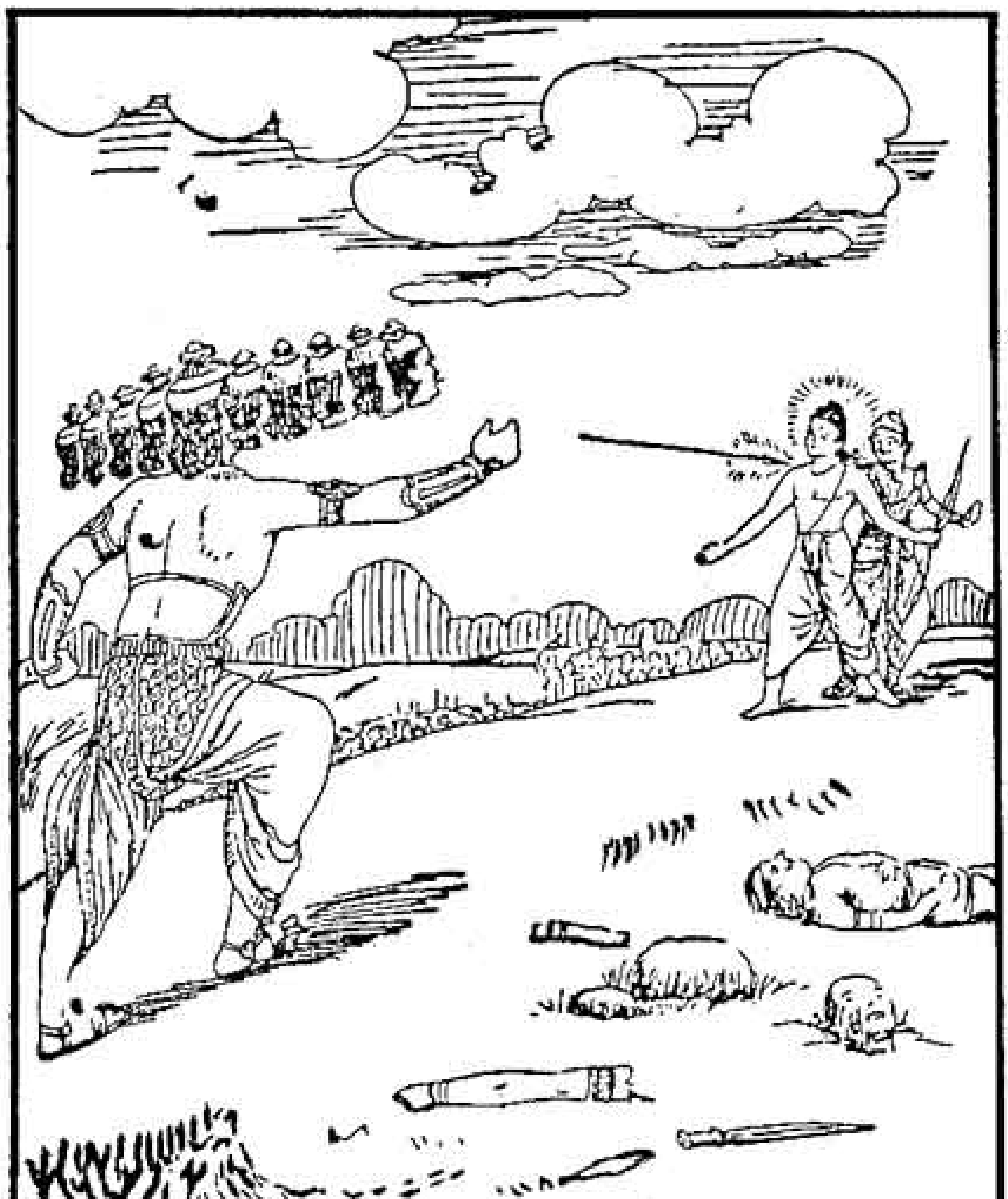
लङ्काकाण्डमें आये हुए कुछ विशेष विषयों और शब्दोंकी अनुक्रमणिका

कुछ नये ग्रन्थोंके नाम जिनसे इस काण्डमें सहायता ली—

अष्टाध्यायी	माधुर्यकादम्बिनी
अग्निपुराण	मुण्डकोपनिषद्
ऋग्वेद	मोक्षधर्म
कौटिल्य-अर्थशास्त्र	रत्नकोष
नारदभक्तिसूत्र	वृत्तरत्नावली, बृहदारण्यकोपनिषद्
नीतिप्रकाशिका	हयशीर्ष पंचरात्र
पञ्चतन्त्र	हरिभक्तविलास
भोजप्रबन्ध	हितोपदेश
माण्डूक्योपनिषद्	

☞ प्राय: शेष ग्रन्थोंके नाम पूर्व काण्डोंमें आये हैं

शरणागतवत्सलता



तुरत बिभीषन पाछें मेला। सन्मुख राम सहेउ सोइ सेला।।

॥ श्रीः ॥

ॐ नमो भगवते श्रीमते रामानन्दाचार्याय।

श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये, श्रीमते रामचन्द्राय नमः।

ॐ नमो भगवत्या अस्मदाचार्य्यायै श्रीरूपकलादेव्यै।

श्रीसद्गुरुभगवच्चरणकमलेभ्यो नमः।

ॐ नमो भगवते मङ्गलमूर्तये कृपानिधये गुरवे मर्कटाय श्रीरामदूताय सर्वविघ्नविनाशकाय क्षमामन्दिराय शरणागतवत्सलाय श्रीसीतारामपदप्रेमपराभक्तिप्रदाय सर्वसंकटनिवारणाय श्रीहनुमते।

ॐ साम्बशिवाय नमः। श्रीगणेशाय नमः। श्रीसरस्वत्यै नमः।

परमाचार्याय श्रीमद्गोस्वामितुलसीदासाय नमः।

श्रीरामचरितमानसाखिलटीकाकर्तृभ्यो नमः।

श्रीमानसपीयूषान्तर्गतनानाविधभावसूचकमहात्मभ्यो नमः।

सुप्रसिद्धमानसपण्डितवर्य्यश्रीसाकेतवासिश्रीरामकुमारचरणकमलेभ्यो नमः।

श्रीजानकीवल्लभो विजयते

अथ श्री

मानस-पीयूष

श्रीरामचरितमानस षष्ठ सोपान

(लङ्काकाण्ड)

श्रीजानकीवल्लभो विजयते

दो०—लव निमेष परमानु जुग बरष कल्प सर चंड।
भजसि न मन तेहि राम कहँ काल जासु कोदंड॥

शब्दार्थ—१८ **निमेष**= १ काष्ठा। ३० काष्ठा १ मुहूर्त। ३० मुहूर्त= १ दिन-रात्रि। शब्दकल्पद्रुममें **'लवम्'** शब्दके अर्थोंमें इस प्रकार दिया है—**'कालभेदः-**। यथा। **'अष्टादश निमेषास्तु काष्ठाद्वयं लवः।'** (हेमचन्द्र) अर्थात् हेमचन्द्रके मतसे दो काष्ठाओंका एक 'लव' होता है, अर्थात् ३६ निमेषोंका एक 'लव' होता है। 'परमाणु' वह कालभेद है जो वस्तुसत्ताके एक परमाणुद्वारा भोगा जाता हो, अर्थात् एक परमाणु पदार्थ अपनी गतिमें जितना समय लेता हो वह एक 'परमाणु काल' है। यह काल निश्चित नहीं है और यह भेद इतना सूक्ष्म है कि अगोचर है। —(शब्दकल्पद्रुमके आधारपर)। **'जुग'** (युग)—ये चार हैं, सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलि। सतयुग १७२८००० वर्षका है और वैशाख शु० ३ से इसका प्रारम्भ होता है। त्रेता १२९६००० वर्षका है और अक्षयनवमी (कार्तिक शु० ९) से इसका प्रारम्भ होता है। द्वापर ८६४००० वर्षका है और भाद्र कृ० १३ गुरुवारको इसकी उत्पत्ति होती है। कलि ४३२००० वर्षका है, इसका आरम्भ ईसासे ३१०२ वर्ष पूर्वसे माना जाता है; अर्थात् अबसे ५०५६ वर्ष और विक्रम संवत्‌के ३०४५ वर्ष पूर्व इसका आरम्भ हुआ।—कालके इन विभागोंका वर्णन श्रीमद्भागवत स्कन्ध ३ अध्याय ११ में दिया है। विशेष नोट १ में देखिये। **चंड**=प्रचंड। तीक्ष्ण। **काल**=वह सम्बन्ध-सत्ता जिसके द्वारा भूत, भविष्य, वर्तमान

आदिकी प्रतीति होती है और एक घटना दूसरीसे आगे-पीछे आदि समझी जाती है। वैशेषिकमें यह एक नित्य द्रव्य माना गया है। आगे-पीछे आदि उसके लिङ्ग बतलाये गये हैं। यह सबका कारण, व्यापक और एक माना गया है।—(श० स०)

अर्थ—लव, निमेष, परमाणु, युग, वर्ष और कल्प ही जिनके प्रचंड बाण हैं और काल जिनका धनुष है, हे मन! तू उन श्रीरामजीका भजन क्यों नहीं करता?॥ १॥

नोट—१ *'लव निमेष'*'''''' इति। श्रीमैत्रेयजीने विदुरजीसे श्रीमद्भागवतमें कालके विभागोंका वर्णन इस प्रकार किया है—जो कार्यरूप पृथिवी आदि स्थूल पदार्थोंका अन्तिम भाग है (जिसका और कोई विभाग नहीं हो सकता) तथा जो कार्यावस्थाका अप्राप्त, असंयुक्त एवं नित्य है उसे 'परमाणु' जानना चाहिये। उनके परस्पर मिलनेसे ही मनुष्यको भ्रमवश साकार वस्तुकी प्रतीति होती है। जिसका चरम अंश परमाणु है उस अपने स्वरूपमें स्थित सम्पूर्ण कार्यवर्गकी एकताका नाम ही 'परम महान्' है, जो सर्वदा निर्विशेष रूप है। (यह वस्तुके सूक्ष्म और महान् रूपका विचार हुआ।) इसीके समान परमाणु आदि संस्थानोंमें व्याप्त होनेके कारण व्यक्त पदार्थोंको भोगनेवाला उत्पत्ति आदिमें दक्ष अव्यक्त भगवान् कालकी भी सूक्ष्मता और स्थूलताका अनुमान किया जाता है। जो काल परमाणुमें व्याप्त रहता है वह परमाणुरूप है और जो सम्पूर्ण निर्विशेष कार्यवर्गका भोग करता है वह 'अति महान्' है। दो परमाणु मिलकर एक अणु होते हैं और तीन परमाणुका एक त्रसरेणु कहा जाता है, जो झरोखेमें होकर आयी हुई सूर्य-किरणोंके प्रकाशमें आकाशमें उड़ता देखा जाता है। वैसे तीन त्रसरेणुओंको पार करनेमें सूर्यको जितना समय लगता है उसे 'त्रुटि' कहते हैं। इससे सौगुना काल 'वेध' कहलाता है। तीन वेधका एक 'लव' होता है। तीन लवका एक 'निमेष' और तीन निमेषका एक 'क्षण' होता है। शुक्ल और कृष्ण पक्षोंके समुच्चयका नाम मास है जो पितरोंका एक दिन-रात है। दो मासकी एक 'ऋतु' और छः मासका एक 'अयन' होता है, जो दक्षिणायन और उत्तरायण भेदसे दो प्रकारका है। ये दोनों अयन देवताओंके एक दिन-रात कहे जाते हैं। बारह मासका एक वर्ष होता है। सत्ययुग आदि चारों युगोंमें क्रमशः चार, तीन, दो और एक सहस्र दिव्य (देवताओंके) वर्ष होते हैं। प्रत्येक युगमें जितने सहस्र वर्ष होते हैं उससे दुगुने सौ वर्ष उसकी संध्या और अंशके और होते हैं। त्रिलोकीके बाहर महर्लोकसे लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त यहाँकी एक सहस्र चतुर्युगीका एक दिन होता है और इतनी ही बड़ी रात्रि होती है, जिसमें ब्रह्माजी शयन करते हैं। यथा—'**चरमः सद्विशेषाणामनेकोऽसंयुतः सदा। परमाणुः स विज्ञेयो नृणामैक्यभ्रमो यतः॥ सत एव पदार्थस्य स्वरूपावस्थितस्य यत्। कैवल्यं परम महानविशेषो निरन्तरः॥ एवं कालोऽप्यनुमितः सौक्ष्म्ये स्थौल्ये च सत्तम। संस्थानभुक्त्या भगवानव्यक्तो व्यक्तभुग्विभुः॥ स कालः परमाणुर्वै यो भुङ्क्ते परमाणुताम्। सतोऽविशेषभुग्यस्तु स कालः परमो महान्॥ अणुर्द्वौ परमाणू स्यात्त्रसरेणुस्त्रयः स्मृतः। जालार्करश्म्यवगतः खमेवानुपतन्नगात्॥ त्रसरेणुत्रिकं भुङ्क्ते यः कालः स त्रुटिः स्मृतः। शतभागस्तु वेधः स्यात्तैस्त्रिभिस्तु लवः स्मृतः॥ निमेषस्त्रिलवो ज्ञेय आम्नातस्ते त्रयः क्षणः॥'''''तयोः समुच्चयो मासः पितॄणां तदहर्निशम्। द्वौ तावृतुः षडयनं दक्षिणं चोत्तरं दिवि॥ अयने चाहनी प्राहुर्वत्सरो द्वादश स्मृतः। चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं कृतादिषु यथाक्रमम्। संख्यातानि सहस्राणि द्विगुणानि शतानि च॥ संध्यांशयोरन्तरेण यः कालः शतसंख्ययोः। तमेवाहुर्युगं तज्ज्ञा यत्र धर्मो विधीयते॥ ''''त्रिलोक्या युगसाहस्रं बहिराब्रह्मणो दिनम्। तावत्येव निशा तात यन्निमीलति विश्वसृक्॥**' (३। ११। १—१२, १९—२२)

नोट—२ *'लव निमेष''''सर चंड'* इति। (क) लङ्काकाण्डमें युद्धका प्रयोजन है, अतः युद्धके सम्बन्धसे काण्डके प्रारम्भमें ही धनुषबाणका रूपक देकर श्रीरामजीकी वीररसयुक्त मूर्त्तिका मंगलाचरण ग्रन्थकारने किया। (पं० रा० कु०) (ख) लव, निमेष और परमाणु ये तीन छोटे बाण हैं। कितने ही जीव ऐसे हैं जो इतने ही अल्पकालमें जन्मते-मरते हैं। वर्ष, युग और कल्प ये तीन बड़े बाण हैं। बड़ी आयुवाले इन बाणोंसे मरते हैं। (बं० पा०) पंजाबीजी लिखते हैं कि 'रामबाणसे असुर मरेंगे। बाणोंका पराक्रम देखकर कोई आश्चर्य न करे इस विचारसे इस दोहेमें प्रभुके (बाणोंके) महत्त्वको प्रथम कहा। (ग) *'सर चंड'*—बाणको

चंड विशेषण देनेका भाव कि कालरूपी बाण समस्त जीवोंकी आयुका नाश अवश्य करते हैं, व्यर्थ नहीं जाते। (घ) यहाँ कालवाची शब्द लव-निमेषादि क्रमसे नहीं लिखे गये। कारण कि कालरूप बाण क्रमसे नहीं चलते; जब जिसकी आयु पूरी हो जाती है तभी वह मृत्युको प्राप्त हो जाता है। (पं० रा० कु०) अथवा, छन्दहेतु क्रम-भंग हुआ है। (पं०)

नोट—३ *'भजसि न मन तेहि राम कहँ'* इति। (क) इस कथनका भाव यह है कि श्रीरामजीका भजन करनेसे ही कालसे बच सकते हैं, अन्यथा नहीं। यथा—*'कबहूँ काल न ब्यापिहि तोही। सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोही॥'*(७। ८८। १) वे अपने भक्तोंको नहीं मारते, जैसे लङ्काके सब निशाचरोंका संहार किया और विभीषणजीको कालसे बचा लिया। (पं० रा० कु०) (ख) इस दोहेमें अपने मनको शिक्षा दी है। मनके द्वारा उपदेश करनेका कारण यह है कि परमार्थ (अध्यात्म) रामायणमें मोह ही रावण है और यह काण्ड 'विमल-विज्ञान-सम्पादनी सोपान' है। (बं० पा०)

नोट—४ *'काल जासु कोदंड'* इति। (क) कालको कोदण्ड कहा, क्योंकि दोनोंका धर्म नाशकर्तृत्व और वक्रता है। कालमें अगणित लवनिमेष युग, कल्प आदि बीतते हैं, वैसे ही धनुषसे अनेक बाण छूटते हैं। बाणसे नाश और कालसे नाश। (बं० पा०) काल किसीकी रूह-रियायत शील-मुलाहजा नहीं करता, यही उसका टेढ़ापन (वक्रता) है। यथा—*'अग जग जीव नाग नर देवा। नाथ सकल जग काल कलेवा॥ अंडकटाह अमित लयकारी। कालु सदा दुरतिक्रम भारी॥'*(७। ९४। ७-८) (ख) कालको धनुषबाण कहा; क्योंकि श्रीरामजीके कालरूपी धनुषबाणसे अनन्त ब्रह्माण्डोंका नाश होता है। यथा—*'ऊमरि तरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया॥ जीव चराचर जंतु समाना। भीतर बसहिं न जानहिं आना॥ ते फल भच्छक कठिन कराला। तव भय डरत सदा सोउ काला॥'* (३। १३ पं० रा० कु०) (ग) आरम्भमें ऐसा मंगलाचरण करनेका भाव यह भी है कि जिसके कालरूपी धनुष-बाणका यह प्रभाव है, उसके लिये लङ्काके निशाचरोंका नाश करना कौन-सी बड़ी बात है? (पं० रा० कु०)

धनुष-बाण हाथमें रहते हैं। अतः दोनोंका काल कहनेका भाव यह है कि काल जिनके हाथमें है, वशमें है उनको क्यों नहीं भजता। (वै०)

नोट—५ यहाँ शङ्का होती है कि 'यहाँ कालको धनुष कहा; पर लव, निमेष आदि जिनको बाण बनाया है वे भी तो काल (के अंग) ही हैं। इस तरह काल ही धनुष हुआ और काल ही बाण। अर्थात् धनुष और बाण दो नहीं कहे गये, वरन् एक ही हैं। जब लवादि सब कालमें हैं तब किस कालको धनुष कहा है?' समाधान यह है कि कालके दो रूप हैं—महत् (अखंड, अक्षय) और सखंड (व्यष्टि), [वा सूक्ष्म और व्यावहारिक स्थूल रूप (मा० म०) वा, अवयव और व्यव] उनमेंसे महत् (अखण्ड अक्षय) काल धनुष है और उसके अन्तर्गत लव, निमेष, परमाणु-युगादि जो छोटे-बड़े काल भेद बर्तते हैं वे सखण्डकाल बाण हैं जो उसमेंसे निकल-निकलकर ब्रह्मादिकोंका नाश करते रहते हैं औरोंकी क्या गिनती? (पां०)

पं० विजयानंद त्रिपाठीजी लिखते हैं कि कालके दो भेद हैं—(१) परिच्छिन्न काल (२) अखण्ड दण्डायमान काल। अखण्ड दण्डायमान कालमें ही परिच्छिन्न कालोंकी कल्पना होती है। ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त जीवोंमें मानका तारतम्य है। ब्रह्मदेव सबसे बड़े, स्तम्ब सबसे छोटा। अतः जीवोंकी आयुकी इयत्ताके अनुसार उनके मानदण्ड भी पृथक्-पृथक् हैं। स्तम्बकी आयु परमाणुसे नापी जाती है, और ब्रह्मदेवकी कल्पसे। न तो ब्रह्मदेवकी आयु परमाणुसे नापी जा सकती है, और न स्तम्बकी कल्पसे नापी जा सकती है। इसलिये परमाणु, लव, निमेष, युग, वर्ष और कल्प ये विभिन्न जातिके जीवोंकी आयुके नापनेके मानदण्ड हैं, इन्हीं परिच्छिन्न कालको चण्डशर कहा, क्योंकि ये ही सबकी आयु समाप्त करते हैं, और धनुषको अखण्ड दण्डायमान काल कहा, जिनसे ये परिच्छिन्नकालरूपी शर निकला करते हैं। फिर भी काल पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश और दिक्की भाँति जड़ पदार्थ है, यह शर कोदण्डकी भाँति स्वतन्त्ररूपेण कार्य करनेमें असमर्थ हैं, अतः इनकी प्रेरणाके लिये वैसा ही धनुर्धर चाहिये, जो इन्हें चला सके। सो वैसे धनुर्धर तो रामजी ही हैं। वे कालके

भी काल हैं, निशिचरसंहार उनके लिये बड़ी बात नहीं है। (यथा—'**यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भक्षत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनम्**')। उसीके शरण-ग्रहणसे मृत्युका उत्क्रमण सम्भव है। (वि० त्रि०)

दूसरी शङ्का यह है कि 'जिस वस्तुका बाण बनता है उस वस्तुका धनुष नहीं बनता। तब एक काल ही धनुष और बाण कैसे हो सकता है?' समाधानमें कामका धनुष-बाण प्रमाण है। उसके धनुष और बाण दोनों ही पुष्पोंके हैं। यथा—***'काम कुसुम धनु सायक लीन्हे। सकल भुवन अपने बस कीन्हे॥'*** (१। २५७। १) (पा०) चाप और बाण एक ही पृथ्वीतत्त्वके विकार परिणामभेद हैं, वैसे ही अक्षयकालप्रेरित नश्वरकालके ही अंश लवनिमेषादि हैं। (प० प० प्र०) (ख) यहाँ बाण और धनुषको काल बताया है। इसी प्रकार आगे कुम्भकर्णयुद्ध-प्रसंगमें त्रोणको भी काल कहा है। यथा—***'सरन्हि भरा मुख सनमुख धावा। काल त्रोन सजीव जनु आवा॥'*** (६। ७०। ३) (रा० बा० दा०) भगवान् राम स्वयं भी अक्षयकालस्वरूप हैं। यथा—***'काल रूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता', 'सुभ अरु असुभ करम फल दाता।'*** (७। ४१। ५) '**अहमेवाक्षयः कालः।**' (गीता १०। ३३), '**कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः।**' (गीता। ११। ३२) (ग) इस कथनसे कवि श्रीरघुनाथजीमें निरन्तर वीररसकी प्रधानता दिखाते हैं, क्योंकि इस काण्डमें वीररसका प्रयोजन है (पा०)। कालके नियन्तृत्वकथनसे सर्वेश्वरत्व सूचित किया। यहाँ वस्तुनिर्देशात्मक मनको शिक्षा है (मा० मु० टी०)।

नोट—६ यहाँ कोदण्ड उपमेय और काल उपमान है तथा 'चण्ड सर' उपमेय और लवनिमेषादि उपमान हैं। 'यहाँ सम अभेद रूपक' और 'उल्लेख' अलङ्कारोंकी संसृष्टि है। (वीर)

'मङ्गलाचरण दोहा'

श्रीभागवतदासजीकी हस्तलिखित पोथी जो उन्होंने सं० १७२१ की प्रतिसे शोधकर सं० १८२८ में लिखकर श्रीअवध भेजी उसमें यह दोहा श्लोकोंके बाद है, पर जो उनकी छपी प्रतियाँ हैं उनमें यह दोहा सबके आदिमें है। पं० रामगुलामद्विवेदीजी और लाला छक्कनलालकी प्रतियोंमें यह दोहा आदिमें है। बाबा बिहारीदासजी (वृद्धकाल,काशी) की प्रतिलिपि (सं० १८१८ की लिखी हुई) में भी दोहा आदिमें है। पं० शिवलालपाठकके मानसमयङ्क, काशीराजकी प्रति (सं० १७०७), लाला छीतूरामकी हस्तलिखित प्रतिलिपि सं० १७१८ की जो गोस्वामी हरिभक्तदासजीकी पोथीसे उतारी गयी, पाण्डेय रामबख्शजी, पंजाबीजी और श्रीबाबा रामचरणदासजीकी पोथियोंमें यह दोहा श्लोकोंके पीछे दिया गया है।

बन्दनपाठकजी कहते हैं कि 'लङ्काकाण्डमें' आदिमें दोहा है, इससे वन्दनाका क्रम मिलता है। एक दोहा और एक श्लोकमें श्रीरामजीका मङ्गलाचरण है और दो श्लोकोंमें शङ्करजीकी वन्दना की है। दोहेको पीछे कर देनेसे क्रमभङ्ग होता है। पुनः लङ्काकाण्डका प्रारम्भ है, इसीसे श्रीरघुनाथजीका परत्व आदिमें कहा और रावणको भयदर्शन देते हैं। जो लोग दोहेको श्लोकोंके पीछे रखते हैं उनका मत है कि रकार (राम) से काण्डका प्रारम्भ ग्रन्थकारने किया और रकारपर ही समाप्ति की। अतएव—***'रामं कामारि'''।'*** आदिमें चाहिये। आदिमें ***'राम'*** है और अन्तमें ***'नाहिंन आन अधार'*** है। वे यह भी कहते हैं कि रकार अग्निबीज है, और इस काण्डमें राक्षसोंका नाश कहा गया है।

मा० म०-कार लिखते हैं कि गोस्वामीजीको लङ्काकाण्ड रचनेके समय यह संदेह हुआ कि रावण शुद्ध ब्राह्मण है और माधुर्य्यमें श्रीरामचन्द्रजी परम ब्रह्मण्य क्षत्रिय हैं तो इनके करसे उसका वध क्योंकर लिखें। इस कल्पनामें पाँच दिन व्यतीत हो गये तब श्रीहनुमान्‌जीने स्वयं आकर यह दोहा लिख दिया। जिसका भाव यह है कि ये रघुनाथजी वह हैं कि जो रात-दिन चराचरका कालद्वारा नाश कर रहे हैं, उनके दुष्ट रावणके वधमें क्यों संदेह कर रहे हो? ऐश्वर्य विचारकर संकोच न करो। लिख चलो। तब गोस्वामीजीने वह दोहा ज्यों-का-त्यों रखा और युद्धकाण्ड लिखने लगे।

रा० प्र० का मत है कि 'ल' का अर्थ मोक्ष और लक्ष्मी है। इस काण्डमें लक्ष्मी श्रीजानकीजीकी तथा विजय (लक्ष्मी) की प्राप्ति होगी अतः 'ल' से काण्डका आरम्भ किया।

प्र० स्वामीका मत है कि 'अन्य किसी भी काण्डका मङ्गल दोहा या सोरठासे आरम्भ न करके श्लोकोंसे ही किया गया। यही प्रणाली यहाँ भी लेनी उचित है।'

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं—'श्रीगोस्वामीजीका यह भी एक नियम मालूम होता है कि कोई नियम निभने नहीं देते। मङ्गलाचरणमें उन्होंने उसी रीतिको अक्षुण्ण रखा। लङ्काकाण्डका मङ्गलाचरण श्लोकसे न करके दोहेसे प्रारम्भ किया। कल्पना करके इसके लिये कारण भी दिखाये जा सकते हैं, पर कहाँ-कहाँ कारण दिखाया जायगा। छन्द, सोरठा, दोहा तथा चौपाइयोंकी संख्या तथा क्रमकी ओर ध्यान देनेसे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि उन्होंने जान-बूझकर क्रम निभने नहीं दिया है। पुराना नियम देखा जाता है कि किले (दुर्ग) को जान-बूझकर किसी ओरसे टेढ़ा बना देते थे।

वै०—'लव (अत्यन्त सूक्ष्मकाल) बाणके गाँसीकी अनी है, निमेष गाँसी है, दण्ड, प्रहर, दिन, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, अयनादि अनेक रङ्ग हैं, वर्ष पोढ़ हैं, चारों युग चार परगीरी है, कल्पान्त फोंक है, कल्प प्रचंड बाण है और महाप्रलय महत्काल कोदंड है।'

प० प० प्र०—इस दोहेसे यह बताया है कि रावणादि राक्षसोंका नाश कालरूप कोदंड ही करेगा। श्रीरामजी शुभाशुभकर्मानुसार उस कालके प्रेरक बनेंगे। उनको पुलस्त्यकुलोद्भव रावणादिके वधका कोई दोष न लगेगा।

मा० हं०—गोस्वामीजीने इस काण्डमें लङ्काक्रमणसे ही उपक्रम किया है। वाल्मीकि, अध्यात्म आदि रामायणोंमें इस काण्डका प्रारम्भ युद्धकी तैयारीसे हुआ है इसीसे उनके रचयिताओंने इस काण्डका नाम युद्धकाण्ड रखा है। किष्किन्धासे वानरभालुकटकसहित प्रस्थान होकर श्रीरामजीका समुद्रतटपर आना, विभीषणका त्याग, शुकसारणकी कथा, समुद्रपर कोप इत्यादि युद्धकी प्रास्ताविक कथाएँ जो वाल्मीकि आदिमें युद्धकाण्डमें हैं। वे सब मानस-कविने सुन्दरकाण्डमें दे दी हैं। इस छठे सोपानका नाम इसीसे 'लङ्काकाण्ड' प्रख्यात हुआ।

प० प० प्र०—१ यह छठा सोपान है। बालकाण्ड मं० श्लोक ६ इस सोपानका प्रतिनिधि स्वरूप है।

प० प० प्र०—२ सोपान ५ और ६ मिलकर श्रीसीतारामचरितका मुख्यत: वर्णन करते हैं। अत: '***रामं कामारिसेव्य****…*' का मिलान '**उद्भवस्थिति***…*' (बा० मं० श्लो० ५), '**शान्तं शाश्वत***…*' (सुं० मं०) तथा '**यन्मायावशवर्त्ति***…*' (बा० मं० श्लो० ६) से करना आवश्यक है (सुन्दरकाण्ड मा० पी० में सुं मं० '**शान्तं**…' का मिलान बा० मं० श्लो० ६ और लं० मं० श्लो० १ से किया गया है)। उससे ज्ञात होगा कि सुं मं० और लं० मं० में साम्य है और दोनोंका बा० श्लो० ६ से साम्य है।

प० प० प्र०—३ श्रीसीताराम भिन्नाभिन्न रूप होनेसे सोपान ५ व ६ की रचना इस प्रकार भिन्न और अभिन्न रूपोंमें की गयी है।

श्लोक—

रामं कामारिसेव्यं भवभयहरणं कालमत्तेभसिंहं योगीन्द्रं ज्ञानगम्यं गुणनिधिमजितं निर्गुणं निर्विकारम्।
मायातीतं सुरेशं खलवधनिरतं ब्रह्मवृन्दैकदेवं वन्दे कन्दावदातं* सरसिजनयनं देवमुर्वीशरूपम्॥ १॥

शब्दार्थ—**मत्तेभ**=मत्त+ इभ= मतवाला हाथी। **कंद**=कं (जल) + द (देनेवाला)= बरसनेवाले श्याम मेघ। **अवदात**=शुभ, श्वेत, निर्मल। मनोज, मनोहर, सुन्दर। **कन्दावदातम्**=श्याममेघके समान सुन्दर, यथा—'**सान्द्रानन्दपयोदसौभगतनुम्**'—(आ० मं० श्लो०)

अर्थ—कामके शत्रु शिवजीके द्वारा सेवाके योग्य, संसार (आवागमन) के भयके हरनेवाले, कालरूपी मतवाले हाथीके लिये सिंहरूप, योगियोंके स्वामी (योगीश्वर), ज्ञानद्वारा जाने योग्य (एवं योगीश्वरोंको ज्ञानद्वारा प्राप्त होनेवाले), गुणसागर, किसीसे पराजित न होनेवाले, सत्त्व, रज, तमसे रहित, विकाररहित, मायासे परे (उसकी पहुँचसे बाहर), देवताओंके स्वामी, दुष्टोंके वधमें तत्पर, ब्राह्मणवृन्दके एकमात्र (प्रधान) देवता, जलभरे मेघके समान मनोहर, कमलनयन, पृथ्वीपति राजारूपमें देव श्रीरामचन्द्रजीकी मैं वन्दना करता हूँ। (मं० श्लो० १)

टिप्पणी १—(क) यहाँ आदिमें गुरुवर्ण त्रयोच्चारण हैं। इसलिये मगण-गण हैं जिसका देवता 'भू'

* कन्दाभगात्रम्—(मा० म०)=मेघकी कान्तिसम शरीरवाले।

है और फल '**श्री**' है। इस प्रकार इस काण्डमें शत्रुविजयकीर्तिजनित एवं स्वकान्ताप्राप्तिजनित श्रीरामजीको श्रीकी प्राप्ति दिखायी (ख) यह स्रग्धरावृत्त है। इसके चारों चरण २१-२१ अक्षरके होते हैं और प्रत्येक चरणमें मगण (तीनों वर्ण गुरु) रगण (मध्यवर्ण लघु), भगण (आदिवर्ण गुरु), नगण (तीनों वर्ण लघु) और तीन यगण (आदि वर्ण लघु) रहते हैं। मानसमें केवल दो वृत्त ऐसे आये हैं, एक यह और एक उत्तरकाण्डमें। यहाँ नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण किया गया है।

टिप्पणी—२ '***कामारिसेव्यम्***' इति। 'कामारि' पद सेवा करने योगसे दिया। भाव यह कि जब जीव कामको जीत ले तब वह श्रीरामजीकी सेवाके योग्य हो, यथा—'***जहाँ राम तहँ काम नहिं जहाँ काम नहिं राम। तुलसी दूनौ ना फबै रबि रजनी एक ठाम॥***'

नोट—१ काम भजनका बाधक है, इसीसे कामको त्यागकर भजन करनेको कहा है, यथा—'***जब लगि भजत न राम कहुँ सोकधाम तजि काम।***' (५। ४६) एवं '***क्रोधिहि सम कामिहि हरिकथा। ऊसर बीज बये फल जथा॥***' अतएव सेवा करनेमें 'कामारि' पद युक्तियुक्त है। ***कामारिसेव्यम्***, यथा—'***ब्रह्मादि संकर सेव्य राम नमामि करुनाकोमलं।***' (६। ११२), '***सिव बिरंचि सुर जाके सेवक।***' (लं० ६२। ५), '***सिव अज पूज्य चरन रघुराई।***' (७। १२४। ३), '***पद पंकज सेवित संभु उमा।***'(६। ११०)

मा० म०—'***कामारिसेव्यम्*** का भाव यह है कि रावण अपने हृदयमें कामको बसाये है और शिवको भी। पर काम शिवका शत्रु है अतएव शिव रावणकी सहायता न करेंगे वरन् उसके नाशकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

पं०—भाव यह है कि कामी ही सेवा नहीं करते वरन् निष्काम शंकर ऐसे ऋषिसे सेवित हैं। 'राम' का भाव कि सब संतोंके रमण-स्थान हैं।

नोट-२ '***भवभयहरणम्*** इति। जीव (मनुष्य) का जन्ममरण कर्माधीन होता है, जन्ममरणमें दुःसह दुःख होता है, यथा—'***जनमत मरत दुसह दुख होई।***'(७। १०९) भक्तको जन्ममरणका दुःख नहीं होता। यही भवभयका हरण है। यथा—'***सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग।***' (४। १०) भवभयहरण यथा—'***भव बारिधि कुंभज रघुनायक।***' (७। ३५), '***भव बारिधि मंदर।***' (१। १८६), '***भव भय मोचन पाहि पाहि सरनहिं आई।***' (१। २११)

नोट-३ '***कालमत्तेभसिंहम्***' इति। काल जिसपर धावा करता है उसे मार लेता है किसीके फेरे नहीं फिरता, यथा—'***काल सदा दुरतिक्रम भारी।***' (७। ९४। ८) अतः उसे मतवाला हाथी कहा। सिंह मत्तगजका भी नाशक है। इसलिये श्रीरामजीको सिंह कहा, क्योंकि ये कालके भी काल हैं, यथा—'***काल ब्याल कर भच्छक जोई। सपनेहु समर कि जीतिअ सोई॥***' (६। ५५। ८), '***तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेश्वर कालहु कर काला॥***' (सुं० ३९), '***तव भय डरत सदा सोउ काला***'—(आ० १२); '***जाके डर अति काल डेराई। जो सुर असुर चराचर खाई॥***' (सुं० २२); '***उमा काल मरु जाकी इच्छा।***' (लं० १०१) आशय यह है कि जो कालके भी काल हैं उनके लिये रावणादिका मारना क्या कठिन है?

टिप्पणी—३ (क) '***योगीन्द्रम्***'इति। योगीन्द्र अर्थात् योगियोंमें परम ऐश्वर्यवान्, परम श्रेष्ठ हैं। यथा—'**महायोगेश्वरो हरिः।**' (गीता ११। ९) (ख) '***ज्ञानगम्यम्***' यथा—'***अति निर्मल बानी अस्तुति ठानी ग्यानगम्य जय रघुराई।***' (१। २११) यथा—'**ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यम्।**' (गीता) (ग)—'गुणनिधि' अर्थात् सम्पूर्ण दिव्यगुणोंसे सम्पन्न। करुणा, दया, क्षमा, शील, भक्तवत्सलता और शरणागतपालकता आदि गुणोंके समुद्र हैं, यथा—'***बिनय सील करुना गुन सागर।***' (१। २८५ परशुरामोक्ति) **अजितम्**, यथा—'***जीति को सकइ अजय रघुराई।***'' (५। १३। ३), '***अजित अमोघ सक्ति करुनामय।***' (१०९। ६), '***सबदरसी अनवद्य अजीता।***' (७। ७२। ५) निर्गुण, यथा—'***ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद। सो अज प्रेम भगति बस कौसल्याके गोद॥***' (१। १९८) (घ) ***निर्विकार***=षट् विकार-रहित, यथा—'***सकल बिकार रहित गत भेदा***'। (ङ) देव=अतिदिव्य, यथा—'**देवीदेवविभागो न स्यात्सच्चिदानन्दविग्रहः।**' (श्रुति), '***चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥***'

नोट—४ विशेषणोंके भाव। जितने विशेषण यहाँ दिये गये हैं वे सब साभिप्राय हैं। रावणवध और निशिचरकुलनाशमें प्रभुके अनेक चरित मोहमें डालनेवाले इस काण्डमें आयेंगे। उन सबोंके संदेह निवारणार्थ श्रीरघुनाथजीका यहाँ परत्व इन विशेषणोंद्वारा कहा है और लङ्काकाण्डकी कथा भी जना दी है।

१—*'कामारिसेव्यम्'* कहकर जनाया कि जो कामको जीतनेवाला है वह भला कामीकी सेवा कब करेगा? अतः यह सिद्ध हुआ कि प्रभुका सेतुबन्धनके लिये शीघ्रता करना और सीताविरहसे पीड़ित होना, (यथा—*'अब बिलंब केहि काम करहु सेतु उतरै कटकु'* एवं *'जारत बिरहवंत नर नारी।'* (लं० १२। १०) नरनाट्य मात्र है। पुनः शङ्करजीसे सेवित हैं; अतएव लिङ्ग-स्थापनमें पाठक शङ्का न करें कि यह कैसे किया? माधुर्यमें रघुनाथजीने शिवजीको बड़ाई दी है जैसा शिवजी स्वयं कह रहे हैं कि *'गिरिजा रघुपति कै यह रीती। संतत करहिं प्रनत पर प्रीती॥'* (लं० ३। ६) पुनः, ये शङ्करसेव्य हैं इसीसे रावणवधपर आकर शिवजीने स्तुति की और वर माँगा है।

(प्र० स्वामीका मत है कि **'कामारिः सेव्यः यस्य'** शिवजी जिनके सेव्य हैं। ऐसा अर्थ करनेसे रामेश्वर स्थापना और पूजन सूचित होता है। ***ब्रह्मवृन्दैकदेवम्***=जो ब्राह्मणोंको देवसमान पूज्य मानते हैं। यह अर्थ भी अभिप्रेत है; क्योंकि रणाङ्गणमें *'बिप्र चरन पंकज सिर नावा'* कहा है। *'बिप्र बंस कै असि प्रभुताई। अभय होइ जो तुम्हहि डेराई॥'* सो इस भावकी पुष्टि होती है।)

२—**'भवभयहरणं कालमत्तेभसिंहम्'**। भाव कि जो, जीवोंको जन्ममरणादि भयसे छुड़ानेवाले हैं उन्हें भवमें पड़ा हुआ प्राणी क्या भय दे सकता है? और जो कालका भी काल है उसे काल कब सता सकता है? अतएव इन्द्रजित्के नागपाशबन्धन और कुम्भकर्णके काल समान युद्धमें वानरोंपर आक्रमण करने, एवं मेघनादके लक्ष्मणजीको शक्ति मारनेसे क्या भय हो सकता है? वह तो खेल मात्र है, यथा—*'प्रभु कृत खेल सुरन्ह बिकलई।'*(९३। ३) *'एहि पापिहि मैं बहुत खेलावा।'* (७५। १४), *'अब जनि राम खेलावहु एही।'* (८५। ६), **'व्यापक ब्रह्म अजित भुवनेस्वर। लछिमन कहाँ बूझ करुनाकर॥'** (५४। ५), *'जिमि कोउ करइ गरुड़ सैं खेला। डरपावइ गहि स्वल्प सपेला॥'* (५०। ८) इत्यादि।

३-**'योगीन्द्रं ज्ञानगम्यम्'**। परम योगीश्वर हैं, सब कुछ जानते हैं; अतः यह न समझो कि रावणके अमृतकुण्डका और रावण और मेघनादके यज्ञोंका हाल विभीषणजीके बतानेसे जाना। यथा—***'सो प्रभु जन कर प्रीति परीछा।'*** (१०१। ३) ये योगीन्द्रोंको ज्ञानद्वारा प्राप्त होते हैं, उनके ज्ञानका विषय हैं, यथा—**'पश्यन्ति यं योगी, जतन करि ……'**। यह उपदेश मन्दोदरी, अङ्गद, माल्यवानादिका होगा।

४-**'अजित'** हैं अर्थात् किसीसे जीते नहीं जा सकते, तब लक्ष्मणजी आदिका जीता जाना कैसे सम्भव है? यथा—*'सुनु गिरिजा क्रोधानल जासू। जारइ भुवन चारिदस आसू॥ सक संग्राम जीति को ताही। सेवहिं सुर नर अग जग जाही॥ यह कौतूहल जानइ सोई। जापर कृपा राम कै होई॥'* (५४। १—३)

५-**'निर्गुण' 'निर्विकार'** विशेषणोंसे जनाया कि लक्ष्मणजीको शक्ति लगनेपर जो आपने प्रलाप किया है उससे यह न समझना कि प्रभुको मोह प्राप्त हुआ। यह सब नरनाट्य है, यथा—*'जस काछिय तस चाहिय नाचा।'* इस प्रलापसे प्रभुने मनुष्यकी परम प्रिय बन्धुके वियोगमें क्या दशा होती है, यह दिखाया है। यथा—*'बोले बचन मनुज अनुहारी', 'उमा एक अखंड रघुराई। नरगति भगत कृपाल दिखाई॥'* (६०। १८) पुनः, निर्विकार कहकर इनको सच्चिदानन्द ब्रह्म जनाया, यथा—*'चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥'*—(अ०)।

६- *'मायातीत'* का भाव कि मेघनाद और रावणादिकी माया वहाँ कब लग सकती है, यथा—*'जासु प्रबल माया बस सिव बिरंचि बड़ छोट। ताहि देखावइ निसिचर निज माया मति खोट॥'* (५०), *'सो माया रघुबीरहि बाँची। लछिमन कपिन्ह सो मानी साँची॥'* (८८। ७)

७- *'सुरेशम्'* विशेषण देकर जनाया कि ब्रह्मा, शिव, इन्द्रादि सब देवता रावणवधपर आपकी स्तुति करके आपसे वर माँगेंगे। पुनः सुरोंके स्वामी हैं अतः आप सदा उनकी रक्षा करते हैं, यथा—*'जब जब नाथ सुरन्ह*

दुख पायो। नाना तन धरि तुम्हइँ नसायो॥' (१०९। ८) इसीसे 'सुरेश' कहकर 'खलवधनिरत' कहा।

८—*'ब्रह्मवृन्दैकदेवम्'*। यहाँतक परत्व कहकर अब खलवधका कारण बताया कि देवताओं और ब्राह्मणवृन्दके एकमात्र ये ही स्वामी हैं। इनकी रक्षाके लिये ही प्रभु दुष्टोंका वध करनेपर तत्पर रहते हैं। यथा—*'निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।'*

९ (क) *'वन्दे कन्दावदातं सरसिजनयनम्'* आदि विशेषण देकर नमस्कार करनेका भाव कि उपर्युक्त विशेषणयुक्त 'राम' सगुण ब्रह्म श्याम शरीरवाले पृथ्वीपति रघुनाथजी ही हैं, दूसरा कोई नहीं। (ख) *'कन्दावदातं सरसिजनयनम्'* विशेषणों से कृपालु और अभयप्रद जनाया। यथा—*'भुज प्रलंब कंजारुन लोचन। स्यामल गात प्रनत भय मोचन॥'* (५। ४५। ४), *'कृपादृष्टि प्रभु ताहि बिलोका। करहु क्रिया परिहरि सब सोका॥'* (१०४। ७), *'कृपादृष्टि करि बृष्टि प्रभु अभय किये सुरबृंद।'*(१०२), *'स्यामगात राजीव बिलोचन। दीनबंधु प्रनतारति मोचन॥'* (११४ छंद), *'पाथोदगात सरोजमुख राजीव आयत लोचनं। नित नौमि राम कृपालु बाहु बिसाल भवभयमोचनं॥'* (आ० ३२), *'स्याम गात कलकंज बिलोचन। जो मारीच सुभुज मदुमोचन॥'* (बा० २२१। ५), तथा, ये रावणके मदके छुड़ानेवाले हैं।

१०— *'उर्वीशरूपम्'* इति। (क) इससे जनाया कि ये चक्रवर्त्ती हैं; अत: रावणको मारकर विभीषणको राज्य देंगे। पुन:,. (ख) उर्वीशरूपकी वन्दना की, क्योंकि इनको 'कामारिसेव्य' और 'सुरेश' कहा है और ये नृप रामकी वन्दना करेंगे और उन्हींसे नृपस्वरूपमें अनुरागका वर माँगेंगे। यथा—*'नृपनायक दे वदानमिदं चरनांबुज प्रेम सदा सुभदं'*—(ब्रह्माजी), *'मोहि भाव कोसलभूप श्रीराम सगुन सरूप। बैदेहि अनुज समेत मम हृदय करहु निकेत॥'* (इन्द्र), *'अनुज जानकी सहित निरंतर। बसहु रामनृप मम उर अंतर॥'* (शिवजी)

११—वन्दनापाठकजी लिखते हैं कि इस प्रथम श्लोकमें षोडश (१६) विशेषण देकर रघुनाथजीकी वन्दना करके उनका पूर्णत्व अर्थात् सोलहों कलाओंसे पूर्ण होना जनाया है।

१२—मा० म०-कार इन विशेषणोंके भाव यह लिखते हैं—

मूलमें प्रथम 'राम' नाम देनेका भाव यह है कि श्रीरामजी संयुग (रण) भूमिमें रणक्रीड़ार्थ रमेंगे और संयुगकारी रावणादि निशाचरोंके प्राणोंको अपनेमें रमावेंगे।

'भवभयहरणम्' का भाव कि भव अर्थात् शिवजी रावणसे भयभीत रहते हैं (क्योंकि उन्हें भी नित्य रावणके यहाँ पुजानेके लिये हाजिरी देनी पड़ती है)। रावण विश्वद्रोही है जिससे शिवजीकी निन्दा होती है क्योंकि ये उसके गुरु हैं। अतएव श्रीरामजी रावणवध करके उनके भयको छुड़ावेंगे। यथा—*'दससीस बिनासन बीस भुजा कृत दूर महा महि भूरिरुजा।'*(शिवोवाच)

'कालमत्तेभसिंहम्' अर्थात् रावणरूपी कालमत्तगजके लिये राम सिंह हैं।

'योगीन्द्रं ज्ञानगम्यम्' अर्थात् ये कामपीड़ित नहीं हैं। प्रिय भक्तोंके एवं सुरविप्रके हेतु खलवधपर निरत हुए हैं। *'ज्ञानगम्यम्'* अर्थात् जिनको यह ज्ञान है कि परतम प्रभु केवल रणलीला कर रहे हैं उन्हींकी गति श्रीरामचन्द्रजीके यथार्थ स्वरूप जाननेमें होगी, अन्यथा भटकते रहेंगे।

'गुणनिधिमजितम्' अर्थात् युद्धविद्याके समुद्र हैं। अजित हैं। निर्गुणोंके पार। अर्थात् पराजय होनेवाले गुणोंके पार हैं। रावणादिके गुण रामजीको न लगेंगे।

'निर्विकारम्' अर्थात् विकाररहित प्रेमके मुख्य आश्रय हैं, अथवा निर्विकार ब्रह्मके भी सार हैं—(मा० म०)। मेघनादकृत सर्पादिका विष इन्हें न लगेगा।—(मा० शं०)

'मायातीतं सुरेशं खलवधनिरतम्' अर्थात् निशिचरोंकी माया न लगेगी। देवताओंके भयको हरेंगे और खलोंका नाश करना तो इनकी नीति ही है।

'ब्रह्मवृन्दैकदेवम्' अर्थात् ब्राह्मणमात्रके इष्टदेव ये ही हैं। भाव कि जो उनको त्यागकर अन्य देवी-देवताका सेवन करे वह ब्राह्मण नहीं। 'देव' का भाव कि ये सर्वत्र व्यापक हैं।

शङ्खेन्द्वाभमतीवसुन्दरतनुं शार्दूलचर्माम्बरं कालव्यालकराल*भूषणधरं गङ्गाशशाङ्कप्रियम्।
काशीशं कलिकल्मषौघशमनं कल्याणकल्पद्रुमं नौमीड्यं गिरिजापतिं गुणनिधिं कन्दर्पहं शंकरम्॥ २॥

शब्दार्थ—**शंखेन्द्वाभमतीव=शंख इन्दु आभम् अतीव। शार्दूल**—यह सिंह जातिका पशु है, जो सिंहको भी दबा लेता है। इसे सिंहका पर्याय भी मानते हैं। **शशाङ्क**=शश (चन्द्रमाका लाञ्छन या कलंक)+ अंक (=धब्बा, चिह्न, शरीर)=जिसके शरीरमें लाञ्छन है=चन्द्रमा। **कल्मष**=पाप। **ओघ**=समूह, यथा—*'सिय निंदक अघ ओघ नसाये'*। **ईड्य**—(ईडा=स्तुति, प्रशंसा)=स्तुतियोग्य=वंदनीय, यथा—**'नौमीड्यं जानकीशं रघुवरमनिशं पुष्पकारूढरामम्'**(उ० मं० श्लोक०)। **द्रुम**=वृक्ष।

अर्थ—शंख और चन्द्रमाकी कान्तिके समान अत्यन्त सुन्दर शरीरवाले, शार्दूलका चर्म जिनका वस्त्र है अर्थात् जो शार्दूल-चर्म पहिने हैं। भयानक कालके समान भयङ्कर सर्प एवं (मुण्डमालादि) भयङ्कर भूषण धारण करनेवाले, गङ्गा और चन्द्रमा जिनको प्रिय हैं, काशीपति, कलिके पापसमूहके नाश करनेवाले, कल्याणके कल्पवृक्ष, गुणसागर, कामके भस्म करनेवाले, (उन जगत्) वंदनीय, श्रीपार्वतीजीके पति श्रीशङ्करजीको मैं नमस्कार करता हूँ॥ २॥

नोट—१ **'शंखेन्द्वाभ'** इति। शंख स्वच्छ और सचिक्कन होता है; चन्द्रमा निर्मल, उज्ज्वल और प्रकाशयुक्त होता है। इनसे उज्ज्वल प्रकाशमान गौर वर्ण जनाया, यथा—*'कुन्द इन्दु दर गौर सरीरा।'* (१। १०६। ६), *'अतीव सुन्दर तनुम'* अर्थात् सौन्दर्यनिधान हैं। **'शार्दूलचर्माम्बरं कालव्यालकरालभूषणधरम्'** से वैराग्यवान् और समर्थ जनाया। **'गङ्गाशशाङ्कप्रियम्'** से श्रीरामभक्त और शरणपाल दीनदयाल जनाया। गङ्गा ब्रह्मद्रव हैं, अत: उनको मस्तकपर धारण करते हैं। क्षीण कलाहीन द्विजचन्द्रको ललाटपर धारणकर उसको जगत्-वंदनीय कर दिया। ऐसे दीनप्रिय हैं। **'यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते।'** **'जटामुकुट सुरसरित सिर लोचन नलिन बिसाल। नीलकंठ लावन्यनिधि सोह बालबिधु भाल॥'** (१। १०६) देखिये।

अ० मं० श्लो० १ में *'कालव्यालकराल'* ···· इस दूसरे चरणसे मिलता यह दूसरा चरण है—**'भाले बालविधुर्गले च गरलं यस्योरसि ब्यालराट्'**; अत: जो भाव वहाँ कहे गये वे सब यहाँ समझ लें।

[पं० गङ्गा और चन्द्रमा दोनों प्रिय हैं इसीसे गङ्गाका काशीमें निवास है और चन्द्रग्रहणका माहात्म्य यहाँ अधिक है।]

नोट—२ यहाँतक आधे श्लोकमें शङ्करजीका स्वरूप, उनका ज्ञान, उपासना और कर्म कहे। आगे उनका निवासस्थान, शक्ति और सामर्थ्य कहते हैं।

वं० पा०—**'कल्याणकल्पद्रुमम्'** इति। कल्याणरूपी चारों फल देनेको कल्पवृक्ष हैं। द्वादश विशेषण देकर द्वादशाङ्ग परिपूर्ण दिखाया। अङ्ग द्वादश माने गये हैं। इसीसे वैष्णवोंमें द्वादश तिलकका विधान है और इसीलिये चन्द्रमाके अवगुण-कथन समय द्वादश अवगुण प्रभुने (१। २३७। ८ से १। २३८। २ तक) वर्णन किये हैं।

प० प० प्र०—१ श्लोक १ में श्रीरामजीको **'कामारिसेव्य'** कहा। श्लोक २ में कामारि **(कंदर्पहम्)** के रूप और ऐश्वर्यादिका वर्णन करते हैं। दोनों श्लोकोंके मिलानसे देख पड़ता है कि दोनोंके विशेषण एक-से हैं। श्लोक १ मेंके **भवभयहरणाम्, कालमत्तेभसिंहम्, गुणनिधिम् खलवधनिरतम्, कन्दावदातम्**—इन विशेषणोंकी जोड़में यहाँ श्लोक २। ३ में **कल्याणकल्पद्रुमम्, कालव्यालकरालभूषणधरम्, गुणनिधिम् खलानां दण्डकृद्, अतीवसुन्दरतनुम्**—ये विशेषण हैं। दोनों ईड्य हैं।

प० प० प्र० २ **'ईड्य'** का सम्बन्ध *'लिंग थापि बिधिवत करि पूजा'* से है। **'कलिकल्मषौघशमनं'** का अर्थ *'जो रामेश्वर दरसनु करिहहिं। ते तनु तजि मम लोक सिधरिहहिं॥'* से स्पष्ट किया है। **'गङ्गाप्रियम्'** का फल *'जो गङ्गाजल आनि चढ़ाइहि। सो सायुज्य मुक्ति नर पाइहि॥'* इससे बताया। दुर्लभ कैवल्य किस प्रकार सुगमतासे देते हैं इसका साधन भी *'गङ्गाजल आनि चढ़ाइहि'* में बताया।

* कपाल (करु०, भा० दा०)

नोट—३ यह शार्दूलविक्रीडित छन्द है। काशीकी प्रतिमें '**कंदर्पहं शङ्करम्**' पाठ है। पं० रा० गु० द्वि०, भा० दा० और छ० की पोथियोंमें '**श्रीशंकर' मन्मथारिम्**' पाठ है। अर्थ दोनोंका एक है। पर इस पाठसे शार्दूलविक्रीडितमें छन्दोभंग होता है, '**श्रीशंकरं कामहम्**' पाठ पं० रा० व० श० की छपी पोथीमें है।

श्लोक—यो ददाति सतां शंभुः कैवल्यमपि दुर्लभम्। खलानां दण्डकृद्योऽसौ शंकरः शं तनोतु माम्*॥ ३॥

शब्दार्थ—**सताम्**=सत् (सज्जन) को। **अपि**=निश्चय ही। **कृद्योऽसौ**=कृत् यो असौ=जो करते हैं। **शम्**=कल्याण।

अर्थ—जो शङ्करजी सज्जनोंको दुर्लभ कैवल्यमुक्ति निश्चय ही देते हैं और जो दुष्टोंको दंड देनेवाले हैं, वे शंकर मेरे कल्याणका विस्तार करें॥ ३॥

वं० पा०—दो विशेषण—पाप और पुण्यके फलदातासे ईश्वरत्व कहा।

नोट १—'**कैवल्य**' पद बहुत दुर्लभ है। यथा—'*अति दुर्लभ कैवल्य परमपद। संत पुरान निगम आगम बद॥*' (७। ११९। ३) '**कैवल्य**' मुक्ति वह है जिसमें प्रभुमें जीव मिल जाता है। इसीको 'ऐक्य' भी कहते हैं। नोट २—'**खलानां दण्डकृद्यो**' यथा—'*जौं नहि दंड करउँ खल तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुतिमारग मोरा॥*' (७। १०७। ४)

वि० त्रि०—'**खलानां दण्डकृदं योऽसौ**' इति। सरकार ही '**खल-वधनिरतम्**' नहीं हैं, शङ्करजी भी '**खलानां दण्डकृत्**' हैं। और लङ्का खलमण्डलीका साम्राज्य है, रावण '**परद्रोहरत, अतिदुष्ट, पापिष्ठ**' है, पर उसके इष्टदेव शङ्करजी हैं—(यथा—'*साहिब महेस सदा संकत रमेस मोहि निज तप साहस बिरंचि लियो मोल हैं*') यहाँ '**खलानां दण्डकृत्**' कहनेका भाव यह है कि रावणने बड़ी भारी खलता की है, इसका दण्ड देना शंकरजीको प्राप्त था, पर सरकार स्वयं दण्ड देनेको उठ खड़े हुए हैं, अतः शङ्करजी हनुमान्‌रूपसे साथ हैं, दण्ड देनेमें अग्रगण्य हैं इष्टदेव होनेपर भी उसके बचानेकी चेष्टा नहीं करते, उसके वधसे प्रसन्न हैं (यथा—'*दस सीस विनासन बीस भुजा। कृत दूरि महा महि भूरि रुजा॥*')

प० प० प्र०—'**शम्**' का अर्थ '*होइ अकाम जो छल तजि सेइहि। भगति मोरि तेहि संकर देइहि*'॥ से स्पष्ट किया है। **शम्**=राम भक्ति। कैवल्यका उल्लेख प्रथम करके तब '**शं तनोतु माम्**' कहनेका भाव कि जो कैवल्यका निरादर करते और '*मुकुति निरादर भगति लुभाने*' हैं वे भक्ति ही माँगते हैं। सुतीक्ष्णजीने भी ऐसी ही याचना की है। यथा— '**धर्म वर्म नर्मद गुनग्रामः। संतत शं तनोतु मम रामः॥**' और जो आगे '**जो कोसलपति राजिव नयना।**' (३। ११। २०) से '**मम हिय गगन इंदु इव बसहु**'''।' (३। ११) तक कहा है वह '**शं तनोतु**' का अर्थ ही है। '*अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥*' (३। ११। २१) यही '**शम्**' है।

सेतुबन्ध-प्रकरण

सो०—सिंधु बचन सुनि राम सचिव बोलि प्रभु अस कहेउ।
अब बिलंबु केहि काम करहु सेतु उतरइ कटकु॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामचन्द्रजीने समुद्रके वचन सुनकर मन्त्रियोंको बुलाकर ऐसा कहा—अब किस कार्यके लिये देर कर रहे हो, (शीघ्र) सेतु बाँधो जिसमें सेना पार उतरे।

टिप्पणी—१ (क) '*सिंधुवचन*'—ये वचन सुंदरकाण्डके अंतमें हैं। वचनका सुनना लंकाकाण्डके प्रारम्भमें लिखकर सुन्दरकाण्ड और लंकाकाण्डका सम्बन्ध मिला दिया। '*नाथ नील नल कपि दोउ भाई। लरिकाईं रिषि आसिष पाई॥ तिन्हके परस किए गिरि भारे। तरिहहिं जलधि प्रताप तुम्हारे॥ मैं पुनि उर धरि प्रभु प्रभुताई। करिहउँ बल अनुमान सहाई॥ एहि बिधि नाथ पयोधि बँधाइय। जेहि यह सुजस लोक तिहुँ गाइय॥*' (५। ६०। १-४) यह सिंधुवचन है। श्रीरामजी इन्हें सुनकर आगे सेतुनिर्माणकी आज्ञा देते हैं। (ख)

* मे—(भा० दा०)।

'सचिव बोलि प्रभु अस कहेउ' इति। मंत्रियोंको बुलानेका भाव कि श्रीरामजी 'प्रभु' अर्थात् स्वामी वा राजा हैं और राजाका धर्म है कि मन्त्रीकी सम्मतिसे काम करे।—[पुनः, 'प्रभु' का भाव कि आप स्वयं समर्थ हैं, यथा-***'लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया॥'*** पर नरनाट्यमें ऐसा कहते हैं मानो सिंधुके बतानेपर इन्हें पार उतरनेका यत्न मालूम हुआ। पुनः नरनाट्यमें नीतिकी मर्यादा रखते हैं।] (ग)' ***अब बिलंबु केहि काम'*** का भाव कि प्रथम विलंबसे यह काम निकला कि समुद्रतरणका उपाय मिला, पर अब बिलंब किस कामके लिये है? अब तो समुद्रने पार होनेका उपाय बता दिया है, वह उपाय करना चाहिये। पहिले उपाय न मालूम था, यथा—***'केहि बिधि तरिय जलधि गंभीरा'*** —[खर्रा- अथवा, कर्त्तव्य-वस्तुमें विलंब न करना चाहिये, यथा—'**आदानस्य प्रदानस्य कर्त्तव्यस्य च वस्तुनः। क्षिप्रं क्रियमाणेन कालः कार्यं विनाशयेत्॥**'](घ)—हनुमान्‌जीने जानकीजीसे कहा है कि ***'जौं रघुबीर होति सुधि पाई। करते नहिं बिलंबु रघुराई॥'***, उनके वे वचन यहाँ चरितार्थ हुए। यहाँ पार उतरनेमें उत्सुकता दिखायी। जानकीजीकी प्राप्तिके लिये आतुर हैं। विलम्ब नहीं सह सकते, क्योंकि हनुमान्‌जी उनकी दशा प्रभुसे कह चुके हैं कि ***'निमिष निमिष करुनायतन जाहिं कलप सम बीति।'*** यह भक्तवत्सलता है। (ङ)—***'करहु सेतु उतरइ कटकु'***, इस कथनसे सूचित किया कि कटक भारी है; अतः भारी सेतु बनाओ। इसीसे वानरोंने ४० कोस चौड़ा और ४०० कोस लम्बा सेतु बनाया। [यह भी जनाया कि केवल कपिकटकके उतरनेके लिये सेतुकी आवश्यकता है। श्रीराम, लक्ष्मण, हनुमान्, सुग्रीव आदिके लिये नहीं। यह भाव ***'जेहि बिधि उतरै कपिकटक तात सो कहहु उपाइ।'*** (५। ५९) में है। (पं० प० प्र०)]

पं० 'राम' और 'प्रभु' शब्दोंका भाव कि आप सब कामोंके लिये समर्थ हैं परन्तु दासोंके रमावनेवाले हैं, वा, बड़ाई देनेवाले हैं, (यथा—***'संतत दासन्ह देहु बड़ाई। तातें मोहि पूछेहु रघुराई॥'***); इसलिये मन्त्रियोंको आज्ञा देकर आनन्द दिया। [***'जद्यपि प्रभु जानत सब बाता। राजनीति राखत सुरत्राता॥'***—जानते हैं कि नलनील सेतु बनायेंगे पर उनसे न कहकर मन्त्रियोंसे कहा।]

सो०—सुनहु भानुकुलकेतु जामवंत कर जोरि कह।
नाथ नाम तव सेतु नर चढ़ि भवसागर तरहिं॥

अर्थ—जाम्बवन्तजी हाथ जोड़कर बोले—हे सूर्यकुलके ध्वजारूप श्रीरामजी! सुनिये! हे नाथ! आपका तो नाम ही सेतु है, मनुष्य (उसपर) चढ़कर भवसागर पार होते हैं।

टिप्पणी—१ ***'जामवंत कर जोरि कह'*** इति। (क) हाथ जोड़कर स्तुति करनेकी रीति है इसीसे हाथ जोड़कर श्रीरामजीकी बड़ाई करते हैं। (ख)—[खर्रा—श्रीरामजीके बहुतसे मन्त्री यहाँ हैं। सबको बुलाकर उन्होंने कहा था। वे मंत्री ये हैं—द्विविद, मयन्द, हनुमान्, जाम्बवान्, कुमुद, गवाक्ष, नल, नील इत्यादि*। इन सबोंमें जाम्बवन्त श्रेष्ठ और वृद्ध हैं; ब्रह्माके पुत्र हैं या यों कहिये कि साक्षात् ब्रह्मा ही हैं; इसीसे वे ही प्रथम बोले। वा, रचना करना ब्रह्माका काम है, अतः ये ही बोले।]

२—***'सुनहु भानुकुल केतु'*** इति। भाव कि सूर्यवंश सबसे बड़ा है, श्रेष्ठ है, उसके भी आप केतु (पताका) हैं अर्थात् सब रघुवंशियोंसे आप श्रेष्ठ हैं, यह कुल आपहीसे शोभाको प्राप्त हुआ है।—(एक खर्रेमें भानुकुलकेतुके भाव यह भी लिखे हैं कि—भानुकुलमें सब श्रेष्ठ ही हुए हैं पर धनुषभंग, परशुरामगर्वहरण, समुद्रमें सेतुबन्धन इत्यादि दुष्कर कार्य किसीने नहीं किये हैं, अतः आप भानुकुलमें ध्वजारूप हैं। (पुनः, सूर्य जगत्‌का प्रकाशक है और आप उसके भी प्रकाशक हैं क्योंकि आपने उसको रावणकी कैदसे छुड़ाया। बंदन पाठकजी लिखते हैं कि इस विशेषणका भाव यह है कि इस कुलमें बड़े प्रतापी राजा हुए, जिनने बड़े-बड़े पराक्रम किये हैं और आप तो इसकी ध्वजा हैं, अतएव आप अवश्य ही सबसे विशेष कार्य किया ही चाहें)।

* अध्यात्ममें श्रीसुग्रीव और श्रीलक्ष्मणजीसे संमत करके रघुनाथजीका नलको आज्ञा देना लिखा है—'ततो रामस्तु सुग्रीवलक्ष्मणाभ्यां समन्वितः। नलमाज्ञापयच्छीघ्रं वानरैः सेतुबन्धने॥'(३। ८६)

टिप्पणी—*'नाथ नाम तव सेतु'* यह प्रभुके *'करहु सेतु उतरइ कटकु'* का उत्तर है। भाव यह कि जब आपका नाम ही ऐसा है तब आपको समुद्र तरनेमें क्या विलंब हो सकता है—यही बात आगे कहते हैं, यथा—*'यह लघु जलधि तरत कति बारा'।* पुनः आप भानुकुलकेतु हैं, भानुकुलमें एक-से-एक बड़े प्रतापी और तेजस्वी राजा हो गये हैं। आपका यश उन सबोंसे अधिक है, क्योंकि आपका नाममात्र लेनेसे मनुष्य भवसागर पार होते हैं; अब जो इस समुद्रमें सेतुबन्धनकी आज्ञा हो रही है इसमें भी आपका यश है, क्योंकि आजतक समुद्रमें किसी राजाने ऐसा सेतु नहीं बाँधा।

प० प० प्र०—**'नाम तव सेतु'** इति। **'मन्त्राणां प्रणवः सेतुः'**, *'मंत्र परम लघु जासु बस बिधि हरि-हर सुर सर्ब।'* (१। २५६) मन्त्रोंका भी सेतु प्रणव है। प्रणव और राम-नाम वेदसार है यह 'नाम-वन्दना' में स्पष्ट किया है। *'भवसागर तरहिं'* यथा—*'नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं।'*

टिप्पणी—४ ग्रंथकारने लंकाकाण्डका उत्थान और समाप्ति नाममाहात्म्यसे ही किया है। कारण यह है कि विमल विज्ञान सिद्ध करनेके लिये जैसा 'राम' नाम साधन है वैसा साधन और कोई नहीं है। अतएव काण्डका उपक्रम और उपसंहार नाममें ही किया।

शु० ला०—जाम्बवंतके वचनोंका भाव यह है कि जब आपके नामरूपी सेतुपर चढ़कर जीव संसार-सागरहीके पार हो जाते हैं तो हम आपके सेवकोंको उसी सेतुपर चढ़कर इस अति अल्प समुद्रके तरनेमें भला क्या ढील होगी, दूसरे सेतु बाँधनेकी क्या आवश्यकता है?

वीरकवि—यहाँ पर्यस्तापह्नुति अलङ्कारकी ध्वनि है कि यह कृत्रिम सेतु सेतु नहीं है, वस्तुतः आपका नाम ही सेतु है।

मिलान कीजिये—*'जासु नाम सुमिरत एक बारा। उतरहिं नर भवसिंधु अपारा॥ सोइ कृपाल केवटहि निहोरा।'* (अ० १०० देखिये)।

रा० श०—रघुनाथजीने सेतुबन्धनकी आज्ञा दी और कहा कि—*'अब बिलंब केहि काम;* इसपर चाहिये था कि ये कार्य तुरंत प्रारम्भ कर देते पर ऐसा न करके जाम्बवंतने इतनी बात बढ़ायी। इसका कारण यह है कि मन्त्रियोंको चाहिये कि राजाको घबराहट न होने दें। श्रीरामचन्द्रजीके वचनोंसे घबराहट जान पड़ी, इससे प्रथम उनको सावधान करते हैं कि आप घबरायें नहीं, यह काम तो पलमात्रका है, अभी हो जायगा, सेतुबन्धन क्या बड़ा कार्य है?

यह लघु जलधि तरत कति बारा। अस सुनि पुनि कह पवनकुमारा॥ १॥

शब्दार्थ—कति=कितनी, कौन। बार=समय, काल, देर यथा—*'निज तनु प्रगटेसि मरती बारा'।* (६। ५७। ५), *'बड़ी बार लगि रहे निहारी।'* (१। १३१। १)

अर्थ—यह तुच्छ छोटा-सा समुद्र पार करनेमें क्या देर लगेगी (अर्थात् यह तो उतरा-उतराया ही है)। ऐसा सुनकर फिर पवनपुत्र हनुमान्‌जी बोले—॥ १॥

टिप्पणी—१ (क)*'यह लघु जलधि'* अर्थात् भवसमुद्रके आगे यह समुद्र बहुत छोटा है। (ख) श्रीरामजीके *'अब बिलंब केहि काम'* इस वचनका उत्तर जाम्बवन्तने यह दिया कि *'यह लघु जलधि तरत कति बारा'।* [यहाँ काव्यार्थापत्ति अलङ्कार है। जिसका नाम भवसागरको तुरत पार कर देता है उसके लिये इस छोटेसे समुद्रके पार होनेकी बात ही क्या? (वीर)]

नोट—*'यह लघु जलधि'* का भाव कि इसको तो न जाने कितने पार कर चुके, कितने सोख चुके, पर भवसागरका अन्त तो अबतक किसीने न पाया कि यह कैसे बना, किस प्रकारका है, इत्यादि। आखिर यही मानना पड़ा कि अनादि है और उसके पार होनेके उपाय भी पातञ्जलि आदि अनेक ऋषियोंने अनेक कहे हैं। ऐसा दुस्तर है सो भी आपके नामसे सहज ही पार हो जाता है—*'नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं।'* (१। २५। ४)

मा० म०—जाम्बवन्तजी ब्रह्माके अवतार हैं और ब्रह्माने ही भवसागर और जलसागर दोनों ही बनाये हैं, यथा—*'बंदउँ बिधि पद रेनु भव सागर जेहिं कीन्ह जहँ''' ॥'*(१। १४) स्वयं रचयिता होनेसे वे सागरको असत्य

क्योंकर कह सकें, इसीसे उन्होंने अपने मतसे दोनोंको सत्य ठहराकर उसके लिये सेतु बताया। पर हनुमान्‌जीके मतमें न तो भवसागर ही सत्य है और न यह विद्यमान समुद्र ही। इसीके अनुसार उनकी उक्ति आगे है। यहाँ यह संदेह होता है कि सागर तो दोनों ही विद्यमान हैं, तब हनुमान्‌जी झूठ क्यों बोले? इसका समाधान यह है कि हनुमान्‌जीने श्रीरामजीके प्रभावसे इस सागरके साथ सूखा ही ऐसा आचरण किया है और करनेको समर्थ हैं। यथा—*'जासु बल बिपुल जल भरति जग जलधि झूरो'* इति बाहुके; और प्रभुके संनिकट भवसागरका अत्यन्ताभाव है ही। यही संतमत है। श्रीहनुमान्‌जी रुद्रावतार हैं। और शिवजीके मतमें जगत् स्वप्न है, यथा—*'उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना॥'* (३। ३९। ५) अतः शिवावतार श्रीहनुमान्‌जी भी जगत्‌को मिथ्या मानकर कुछ नहीं समझते। [श्रीहनुमान्‌जी ज्ञानघाटके आचार्य और श्रीशिवजीके अवतार हैं। इनकी दृष्टि ब्रह्ममय है, ब्रह्मके शरीररूपमें देखनेसे जगत्‌की स्वतन्त्र सत्ता रह ही नहीं जाती। ज्ञानदृष्टिमें जो वस्तु आगे नाश होनेकी होती है, वह ब्रह्मके सत्यसंकल्पसे पहले ही नाश हो जाती है, जैसे गीतामें भविष्य-नाश भगवान्‌ने अर्जुनको पहले ही दिखा दिया है। यथा—'**मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठाः**।' (गीता ११। ३४) ये अपनी दृष्टिसे कहते हैं। (स० ति०) (विशेष आगे चौ० २-३ में गौड़जीका टिप्पण देखिये।)]

टिप्पणी—२ *'अस सुनि पुनि कह·····'* इति। (क) पुनि=तत्पश्चात् फिर। ['श्रीरामचन्द्रजीकी उत्सुकता देखकर मनोरथकी (शीघ्र) पूर्णताके अनुकूल जाम्बवन्तजीने वचन कहे कि जिसके नामसे मनुष्य महाभवसागर तर जाते हैं उसको इस सागरके उतरनेमें क्या देर! '**कति बारा**' शब्द कहनेसे श्रीरघुनाथजीके मनोरथकी सम्पूर्ण पूर्णता नहीं पायी गयी, इससे श्रीहनुमान्‌जी बोले।' (पाँ०)] जाम्बवन्तजीकी '**कहनि**' (कथन) में यह समुद्र बना रहा। इसीसे श्रीहनुमान्‌जी बोले। इनकी 'कहनि' (उक्ति) में यह समुद्र ही न रह गया। (ख) '**पवनकुमार**' का भाव कि पवनसे वाणीकी उत्पत्ति है और हनुमान्‌जी पवनके पुत्र हैं, इसीसे इनका वचन विलक्षण है।

प्रभु प्रताप बड़वानल भारी। सोखेउ प्रथम पयोनिधि बारी॥ २॥
तव रिपु नारि रुदन जल धारा। भरेउ बहोरि भएउ तेहि खारा॥ ३॥

शब्दार्थ—**बड़वानल**=समुद्रके भीतरकी अग्नि या ताप। भूगर्भके भीतर जो अग्नि है उसीका ताप कहीं-कहीं समुद्रके जलको भी खौलाता है। कालिकापुराणमें लिखा है कि कामको भस्म करनेके लिये शिवजीने जो क्रोधानल उत्पन्न किया था, उसे ब्रह्माने बड़ावा या घोड़ीके रूपमें करके समुद्रके हवाले कर दिया जिसमें लोककी रक्षा रहे। पर वाल्मीकिरामायणें लिखा है कि बड़वाग्नि और्व ऋषिका क्रोधरूपी तेज है, जो कल्पान्तमें फैलकर संसारको भस्म करेगा। (श० स०)। पद्म-पु० सृष्टिखण्ड पुष्कर-माहात्म्यप्रसंगमें लिखा है कि देवताओंकी प्रार्थनासे ब्रह्माजीकी आज्ञा पाकर भगवान् विष्णुसे स्वर्णघटमें रखे हुए बड़वानलको ले जाकर सरस्वतीने खारे समुद्रमें पधरा दिया था। **पयोनिधि**=पय (=जल)+निधि=जलका अधिष्ठान वा खजाना=समुद्र। **रुदन**=रोना, विलाप।

अर्थ—प्रभुका प्रताप भारी बड़वानल है। उसने पहिले ही समुद्रका प्रथम (पूर्वका) जल सोख लिया॥ २॥ परंतु आपके शत्रुकी स्त्रियोंके रोनेकी जलधारासे वह फिर भर गया इसीसे वह खारा भी हो गया॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'प्रभु प्रताप बड़वानल भारी।·····'* इति। (क) प्रतापको बड़वानलसे भारी कहा; क्योंकि उसके समान होनेसे वह समुद्रको नहीं सोख सकता था! बड़वानलसे भारी है इसीसे समुद्रको सोख लिया। प्रताप सूर्य है, यथा—*'जब ते रामप्रताप खगेसा। उदित भएउ अति प्रबल दिनेसा॥'* (ख) *'पयोनिधि बारी'* कहनेका भाव कि पहिलेका जल मीठा था। 'पय' से जनाया कि दूधके सदृश था, पर अब खारा हो गया। खारा होनेका कारण आगे कहते हैं। खारा कहकर आँसूसे समुद्रका भरना सूचित किया। आँसू खारा होता है।

टिप्पणी—२ *'तव रिपु नारि'* इति। (क) जो जो शत्रु मारे गये उनकी स्त्रियाँ रोती हैं और जो अभी नहीं मारे गये उनकी भी स्त्रियाँ पतिके मारे जानेके भयसे रोती हैं। (ख) '**जलधारा**' कहा; क्योंकि

बूँदसे समुद्र नहीं भर सकता, धारासे भरता है। हजारों स्त्रियाँ रोयीं जिनसे हजारों धाराएँ चलीं, तब समुद्र भरा है। तात्पर्य कि यह तो आँसुओंका समुद्र है—यथार्थ कुछ है नहीं।

मा० हं०—ये भाषण बड़े ही गम्भीर और कौशलदर्शक हुए हैं। ऐसे शौर्योद्दीपक भाषण युद्धके पुरोगामी रखनेसे कविकी कल्पकता बड़ी ही प्रशंसनीय मालूम होती है।

मा० शं०—यहाँ मन्दोदरीके रुदनसे समुद्रका भरना सूचित किया। मन्दोदरीके रुदनसे रामदूतजीने रावणवध सूचित कर दिया; क्योंकि उनके सिद्धान्तसे न समुद्र है न रावण ही, रावण मरा हुआ ही है, यथा—*'जीवत सव सम चौदहर प्रानी'*/ सेवक ऐसा ही चाहिये कि स्वामीका मनोभीष्ट लखकर कार्यसिद्धिमें उत्साहवर्द्धन करे।

करु०—श्रीरघुनाथजीकी प्रसन्नताहेतु यह कथन सभाचातुरी है।

गौड़जी—यहाँ अत्यन्तातिशयोक्ति अलङ्कार है। इसे मिथ्यावाद नहीं कहना चाहिये। इसे कोई सुननेवाला यह समझकर धोखा नहीं खा सकता कि भगवान्को जरूरत पड़नेके पहले ही उनके प्रतापने समुद्रको सुखा दिया था और केवल आँसुओंसे यह फिर भर गया है। भगवान् मारुतिके इस वाक्यसे यह प्रकट होता है कि वह कितने उत्कृष्ट कवि हैं और अपने स्वामीके प्रतापका बखान किस खूबीसे कर सकते हैं। इसे झूठ बोलना वही कहेंगे जो काव्यरसका आस्वादन करनेमें समर्थ नहीं हैं।

मयूख (मा० म०)—हनुमान्जीने झूठ क्यों कहा? इसका उत्तर यह है कि हनुमान्जीकी अत्युक्ति अभ्यन्तर नारदपञ्चरात्रकथित श्रीरामचन्द्र और अग्निके युद्धका कथन है, जिसमें अग्निका सिर भगवान्के चक्रसे कटकर समुद्रमें गिरा और जल सूख गया; तब अग्निकी स्त्री स्वाहा पतिके मरनेसे विलाप करने लगी। उसके आँसूसे समुद्र फिर भर गया। अतएव जल खारा हो गया। इस कारण हनुमान्जीकी उक्ति सत्य है।

मा० म०—चौपाईका अर्थ यह है कि बड़वानलसे ही प्रथम जल सूख गया था और आपका प्रताप तो उस बड़वानलसे भारी है तब यह समुद्र तो सूखा-सुखाया ही है।

वीर—हनुमान्जीका कथन है कि आपके प्रतापने पूर्व ही समुद्र सोख लिया, कारणसे पहिले कार्यका प्रकट होना *'अत्यन्त अतिशयोक्ति'* है। सोख लिया तो यह जलपूर्ण कैसे देख पड़ता है? इसका युक्तिसे समर्थन कि शत्रुकी स्त्रियोंके आँसूसे भरा 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार है। समुद्रजल उपमेयको असत्य ठहराकर कहना कि आँसूरूपी उपमानसे भरा इसीसे खारा है, यह 'हेत्वापह्नुति' अलङ्कार है।

शु० ल०—भाव यह है कि जबसे आपने कोप करके लंकाको पयान किया है तभीसे आपके प्रतापके बड़े भारी बड़वानलने इसके समस्त जलको प्रथमहीसे सुखा दिया है और आपके वैरियोंकी स्त्रियाँ उनको मृततुल्य जानकर पहलेहीसे रो रही हैं। जिससे यह फिर भर गया और इसीसे खारा है।

सुनि अति उक्ति पवनसुत केरी। हरषे कपि रघुपति तन हेरी*॥ ४॥

शब्दार्थ—**उक्ति**=कथन, वचन, अनोखा वाक्य। **अति उक्ति**=अत्युक्ति=बढ़ाचढ़ाकर वर्णन करनेकी शैली। यह एक अलङ्कार है जिसमें शूरता, उदारता आदि गुणोंका अद्भुत और अतथ्य वर्णन होता है—(श० स०) **तन**=ओर, तरफ, यथा—*'बिहँसे करुना ऐन चितइ जानकी लषन तन'।* हेरना=देखना। हेरी=देखकर।

अर्थ—पवनपुत्र हनुमान्जीकी यह अत्युक्ति सुनकर वानर रघुपति (श्रीरामजी) की ओर देखकर हर्षित हुए॥ ४॥

टिप्पणी १—*'अति उक्ति'* कहकर सूचित किया कि यह 'अत्युक्ति अलङ्कार' है। झूठ और अद्भुत बात वर्णन करे, यही अत्युक्ति अलङ्कार लक्षण है। प्रमाण यथा—'**अत्युक्तिरद्भुतातथ्यशौर्यौदार्यादिवर्णनम्। त्वयि दातरि राजेन्द्रायाचकाः कल्पशाखिनः॥ राजन् समाप्यकूपारास्त्वत्प्रतापाग्निशो विषाः। त्वद्वैरिराजवनितावाष्पपूरेण पूरिताः॥**'(चन्द्रालोक १-२)

टिप्पणी—२ *'हरषे कपि रघुपति तन हेरी'* का तात्पर्य यह है कि हनुमान्जी अत्युक्ति सुनकर हर्षित हुए और श्रीरामजीकी मूर्ति देखकर हर्षित हुए कि इस मूर्तिका प्रताप भारी है। जिनके किंचित् प्रतापसे समुद्र

* रघुपति कपि तन—(भा० दा०)।

सूख गया वे स्वयं यहाँ विद्यमान हैं। तब यह समुद्र क्या है? तन=तरफ, यथा—*'होइ बुद्धि जो परम सयानी। तिन तन चितइ न अनहित जानी॥'*—(उ०) तनका अन्वय 'कपि' और 'रघुपति' दोनोंमें है।

बं० पा०—अत्युक्ति सुनकर कपि हर्षित हुए कि ऐसे प्रतापी स्वामी और ऐसे बुद्धिमान् सचिव धन्य हैं। अत्युक्ति ईश्वरमें तो हो नहीं सकती, यह केवल माधुर्य रामकुमारमें है। अतः यहाँ माधुर्यसूचक *'रघुपति'* नाम दिया।

पं०—भाव कि हमारे स्वामी ऐसे शक्तिमान् हैं तब हमको रावणादिके वधकी क्या चिन्ता है?

प० प० प्र०—जिस अत्युक्तिमें भगवान्‌का वर्णन है वह अत्युक्ति होनेपर भी पावनताकी उत्पत्ति करनेवाली होगी यह भाव *'पवनसुत'* शब्दका योग *'अति उक्ति'* से करके सूचित किया। जब *'प्रभु प्रताप बड़वानलहि जारि सकइ खलु तूल'* यह सम्भव है तब *'प्रभु प्रताप बड़वानल भारी। सोखेउ प्रथम पयोनिधि बारी॥'* कैसे असम्भव होगा।

गौड़जी—*'हरषे'''हेरी।'* इस अत्युक्तिको सुनकर श्रीरघुनाथजीकी ओर देखकर कपियोंने हर्ष प्रकट किया। वह इस अत्युक्तिकी खूबीपर खुश हुए और इस तरह दाद दी। भगवान्‌ने इस अत्युक्तिपर केवल मुस्कराकर दाद दी थी। अदबके ख्यालसे कपियोंको भी इसी तरह दाद देना उचित ठहरा। इससे ज्यादा बढ़ना बेअदबी होती। सेवक तो प्रभुका ही सदा अनुगामी होता है। जो वानर बोलने-चालने आदि सभी बातोंमें मनुष्योंके आचरण करते थे, जिनके सरदार हनुमान्‌जी ऐसे उत्कृष्ट गायक, अभिनेता, वेदज्ञ, सर्वकलाकुशल और ऐसे श्रेष्ठ कवि थे, वह भी कुछ साधारण बंदर न थे। वह काव्य-रसका आस्वादन भी कर सकते थे। आजकलके-से वानरोंकी तरह अदरकके स्वादसे अनभिज्ञ न थे। भगवान्‌का प्रताप कहिये, सत्सङ्ग कहिये या देवांश कहिये कारण जो हो, कम-से-कम वह उन अरसिकोंसे अच्छे ही थे जो इस अत्युक्तिकी खूबी न समझकर मिथ्यावादिताका आरोप करते हैं।

जामवंत बोले दोउ भाई। नलनीलहि सब कथा सुनाई॥५॥

शब्दार्थ—बोलना=बुलवाना, पास आनेके लिये कहना, बुलाना। यह प्रयोग प्रान्तिक है और केवल पद्यमें होता है। *'लिए बोलि अंगद हनुमाना।'* (४६। १) पुनः, बोलना=कहना। बोले=कहा, यथा-*'बोले अंगदादि कपि नाना।'* (७४। ६)

अर्थ—जाम्बवन्तजीने नल-नील दोनों भाइयोंको बुलाया और सब कथा सुनाकर कही। वा नल-नील दोनों भाइयोंको सब कथा सुनाकर उनसे बोले—॥ ५॥

टिप्पणी १—*'सब कथा'* यह कि समुद्रने श्रीरामचन्द्रजीसे प्रार्थना की कि नल-नीलके स्पर्शसे पत्थर समुद्रमें तैरेंगे, इनको ऋषियोंका आशीर्वाद है कि इनका स्पर्श किया हुआ पत्थर जलमें नहीं डूबेगा। अतएव तुम सेतु बाँधो। *'सब कथा सुनाई'* से यह सूचित हुआ कि जब समुद्रने रामजीसे सेतुबन्धनका उपाय बताया था तब ये दोनों वहाँ न थे, नहीं तो इस कथाके कहनेका प्रयोजन न था।

नोट—'नल नील'—नल विश्वकर्माके पुत्र हैं। इन्होंने पितासे सब वस्तुओंके जाननेका वर पाया है। (वाल्मी० २२। ४१, ४२) नलने श्रीरामचन्द्रजीसे कहा है कि हमारे पिताने हमारी माताको वरदान दिया था कि तुम्हारा पुत्र हमारे ही समान उत्पन्न होगा। अतएव हम पिताके समान सब कुछ बनानेमें चतुर हैं **'मम मातुर्वरो दत्तो मन्दरे विश्वकर्मणा। मया तु सदृशः पुत्रस्तव देवि भविष्यति॥'** (वाल्मी० ६। २२। ५१)। पुराणानुसार नल ऋतुध्वज ऋषिके शापके कारण घृताचीके गर्भसे वानररूपमें उत्पन्न हुए थे।—(श० स०) आनन्दरामायण खण्ड १ अध्या० १० में कथा है कि ये ब्राह्मणोंके शालग्रामको जलमें फेंक दिया करते थे। तब उन्होंने शाप दिया कि पाषाण तुम्हारे स्पर्शमात्रसे जलमें न डूबेगा वरन् तैरेगा। (श्लोक ६५-६८) वह शाप इस समय वरदानतुल्य हो गया। ये वचन समुद्रके हैं। यथा-'**मयि सेतु कारयस्व नलेनोपलनिर्मितम्। विश्वकर्मसुतश्चायं वरो लब्धोऽस्त्यनेन हि॥ द्विजस्य जाह्नवीतोये शालिग्रामस्त्वनेन हि। त्यक्तस्तदा तेन शप्तः पाषाणादि तरिष्यति॥ त्वद्धस्तादिति शापोऽयं वर एवाऽत्र संस्मृतः॥**' (आ० रा० १। १०। ६६—६८)

वाल्मीकि सर्ग ३० में लिखा है कि नील अग्निका पुत्र है; यह बात दूतोंके सरदार शार्दूलने रावणसे कही है। नल और नील दोनोंकी माता एक ही हैं। जान पड़ता है कि एक ही स्त्रीसे नील अग्निके तेजसे उत्पन्न हुए और नल विश्वकर्माके तेजसे, अतः दोनों भाई कहे गये।

पं०—रामजीने स्वयं क्यों न कहा, जाम्बवन्तसे क्यों कहलाया? उत्तर—राजनीतिमें बहुधा यह नियम है कि नृप मन्त्रियोंद्वारा बात करते हैं और ये वृद्ध मन्त्री हैं। अथवा, जाम्बवंतको कहना है कि रामप्रताप स्मरण कर सेतु रचो, ये अपनी बड़ाईके वचन रामजी स्वयं कैसे कह सकते थे? अतः जाम्बवन्तने कहा।

मा० म०—जाम्बवान्ने सकटक नल-नीलको सेतुबन्धकी आज्ञा देकर अपने कर्तव्यको सत्य किया और समुद्रके अस्तित्वका निरूपण किया एवं श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञाका पालन किया।

रामप्रताप सुमिरि मन माहीं। करहु सेतु प्रयास कछु नाहीं॥ ६॥

शब्दार्थ—**प्रयास**=परिश्रम।

अर्थ—मनमें श्रीरामजीका प्रताप स्मरण करके सेतुकी रचना करो, कुछ भी परिश्रम नहीं होगा॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) रामप्रताप स्मरण करनेको कहा; क्योंकि समुद्रने श्रीरामजीका प्रताप कहा था, यथा—***'तिन्ह के परस किए गिरि भारे। तरिहहिं जलधि प्रताप तुम्हारे॥'*** फिर श्रीहनुमान्‌जी भी श्रीरामजीका प्रताप कहा, यथा—***'तव प्रताप बड़वानल भारी।'*** अतएव वही उपदेश जाम्बवन्तजी नल-नीलको कर रहे हैं कि तुम भी रामप्रतापका मनमें स्मरण करके सेतु बाँधो। (ख) ***'प्रयास कछु नाहीं'*** कहनेका भाव कि विभीषणजीने जो कहा था कि समुद्र उपाय बतायेगा तो सेतुबन्धनमें कुछ प्रयास न होगा, यथा—***'प्रभु तुम्हार कुलगुरु जलधि कहिहि उपाय बिचारि। बिनु प्रयास सागर तरिहि सकल भालु कपि धारि॥'*** वह बात जाम्बवन्त नहीं कहते; इन्होंने रामप्रतापको ही मुख्य रखा।'

नोट—रामप्रताप स्मरण करके जो-जो कार्य किये गये वे सब सिद्ध हुए, यह बात आगे ४३ (१) में दिखायी गयी है। इसी विचारसे प्रताप स्मरण करके कार्य प्रारम्भ करनेको कहा। ***'रामप्रताप'*** वानरोंके सामने कई बार कहा गया है। एक तो यही जाम्बवन्त और हनुमान्‌जीने और पूर्व सुं० ३३ में भी हनुमान्‌जीने कहा है, यथा—***'तव प्रभाउ बड़वानलहि जारि सकइ खलु तूल',*** तथा समुद्रने भी कहा था; यथा—***'तरिहहिं जलधि प्रताप तुम्हारे। मैं पुनि उर धरि प्रभु प्रभुताई। करिहउँ बल अनुमान सहाई॥ एहि बिधि नाथ पयोधि बँधाइअ।'*** (५। ६०) अतएव प्रतापके उदाहरण न दिये।

बं० पा०—वही राम-प्रताप जो ऊपर कहा गया, जो समुद्रको सोखनेवाला है उसीका स्मरण करनेको कहा।

बोलि लिए कपि-निकर बहोरी। सकल सुनहु बिनती कछु* मोरी॥ ७॥
रामचरनपंकज उर धरहू। कौतुक एक भालु कपि करहू॥ ८॥
धावहु मर्कट बिकट बरूथा। आनहु बिटप गिरिन्ह के जूथा॥ ९॥

शब्दार्थ—**बोल लेना**=पास बुला लेना। **बरूथ**=झुंड, समूह, जत्था, सेना। आनना=लाना, यथा—***'आनहु रामहि बेगि बोलाई'।*** यह प्रयोग केवल पद्यमें होता है। संस्कृत शब्द 'आनयन' से बना है। ***जूथा*** (यूथ)=झुंड, एक जाति या वर्गके पदार्थोंका समूह। **बिकट**=विशाल, भयंकर, विकराल, दुर्गम कार्य करनेवाले।

अर्थ—फिर वानर-समूहको बुला लिया (और उनसे बोले,) आप सब मेरी कुछ विनती सुनिये॥ ७॥ (वह विनती यह है कि) अपने हृदयमें श्रीरामजीके चरणकमलोंको धारण कीजिये और (आप सब) भालु-वानर एक कौतुक कीजिये॥ ८॥ विकट वानरोंके समूह आप लोग दौड़ जावें और वृक्षों और पर्वतोंके समूह उखाड़कर ले आवें॥ ९॥

बं० पा०—प्रथम कारीगरोंको तैयार करके अब मसाला देनेवालोंको बुलाते हैं; क्योंकि बिना मसाला कारीगर क्या कर सकते हैं।

* एक (का)।

टिप्पणी—१ (क) *'कपि निकर ......'* इति। प्रथम नल-नील दोको बुलाया था, अब समूहवानरोंको बुलाया। सबको समीप बुलाया; क्योंकि सबसे विनती करना चाहते हैं। (ख) ***'सकल सुनहु बिनती'।*** विनती करनेका भाव यह है कि जाम्बवन्तजी सब वानरोंसे पत्थर ढुलानेका काम कराना चाहते हैं जो काम मजदूरोंका है, अतएव विनती करके कहते हैं जिसमें सब वानर प्रसन्न रहें, नाराज (अप्रसन्न) न हों। दूसरा भाव यह है कि सुग्रीव सबोंके राजा हैं, वे सबको आज्ञा दे सकते हैं, मैं आपको आज्ञा नहीं देता, मैं विनती करके काम करनेको कहता हूँ। [विनय आदरसम्मानार्थ है—(बं० पा०)। अथवा काम कराना है, कार्यके लिये बड़ोंकी रीति है विनीत वचन कहना। दूसरे, वे सबको रामजीका दास मानते हैं—(पं०) पुनः श्रीजाम्बवान्‌जी ऋक्षराज भी हैं और सुग्रीवजीके प्रधान मन्त्री भी हैं, श्रीरामजीके युद्धमन्त्री हैं। लङ्काकाण्डमें मन्त्रियोंमें प्रायः इन्हींकी प्रधानता देखनेमें आती है। यथा—***'पूछा मत सब सचिव बोलाई। कहहु बेगि का करिअ उपाई॥ जाम्बवंत कह पद सिरु नाई॥'*** (१७। १-२); ***'जाम्बवंत कह बैद सुषेना। लंका रहइ को पठई लेना॥'*** ......(५५। ७) युद्धमन्त्री होनेसे सबको आज्ञा दे सकते हैं। फिर भी ऋक्षराज होनेसे पहले 'भालु' को ही सम्बोधन किया है, यह इनकी बुद्धिमत्ता है।]

टिप्पणी—२ *'राम चरन पंकज ....'* इति। (क)रामचरणकमलोंको हृदयमें धारण करनेका भाव यह है कि ऐसा करनेसे कठिन कार्य सुगम हो जाता है, यथा—*'रघुपति चरन हृदय धरि तात मधुर फल खाहु।'* (५। १७) रावणके बागके फल खाना कठिन था जो रघुपति-चरणको हृदयमें धारण करनेसे सुगम हो गया। पुनः; (ख) यथा—***'राम चरन सरसिज उर राखी। चला प्रभंजनसुत बल भाषी॥'*** (५६। १) ६०लक्ष योजनसे रातभरमें द्रोणाचलको ले आना कठिन था। उसे वे रामचरणकमलको हृदयमें धारण करके ले आये। पुनः, भाव कि रामचरण हृदयमें धारण करनेसे भवसागर पार हो जाता है, यथा—***'पद पंकज बिलोकि भव तरिहउँ।'*** (७। १८। ७) तब यह समुद्र कितना है। वा, (ग) इष्टभावसे धारण करनेको कहा। रामचरणको कमल कहा। उसके सम्बन्धसे 'उर' सर हुआ जिसमें वह कमल रहेगा, यथा—***'हर उर सर सरोज पद जोई।'*** (५। २। ८) हृदय-सरमें रामचरणकमल रहनेसे श्रमरूपी ताप न होगा। (बं० पा०)

टिप्पणी—३ ***'कौतुक एक.....'*** इति। भाव यह कि श्रीरामचरणकमलको हृदयमें रखनेसे यह कठिन काम भी कौतुक-(खेल, तमाशा) सा हो जायगा, उसमें कुछ भी श्रम नहीं पड़ेगा। पुनः, पत्थर और वृक्षका ढोना न कहकर ***'कौतुक करहु'*** कहते हैं; क्योंकि वैसा कहना अशोभित था। वृक्षों और पर्वतोंको उखाड़कर ले आना इनके लिये कौतुक अर्थात् खेल ही है। आगेके ***'अति उतंग गिरि पादप लीलहि लेहिं उठाइ।', 'सैल बिसाल आनि कपि देहीं। कंदुक इव नल नील ते लेहीं॥'*** में यह ***'कौतुक'*** चरितार्थ हुआ है।

नोट—१ जाम्बवन्तजी वानरकटकका साथ लेना भी कौतुक ही समझते हैं, यथा—***'तव निज भुज बल राजिवनयना। कौतुक लागि संग कपि सयना॥'*** (कि० ३०। १२) ***'कौतुक'*** कहकर प्रभुके प्रतापको प्रधान सूचित करते हैं। (ख) स्वामी-आज्ञा ***'अब बिलंब केहि काज'*** के अनुकूल यहाँ **'धावहु'** और ***'मर्कट बिकट बरूथा'*** पद दिये।

टिप्पणी—४ (क) **'धावहु'** से जनाया कि यह काम जल्दीका है, शीघ्र ले आओ; क्योंकि श्रीरामजीकी इच्छा है कि सेतु शीघ्र बँध जाय, यथा—***'अब बिलंबु केहि काम करहु सेतु उतरइ कटकु॥'*** (ख) ***'बिकट बरूथा'*** का भाव कि तुम सब बड़े-बड़े दुर्गम कार्य करनेवाले हो, अतः तुम सब बड़े-बड़े पर्वत और वृक्ष ला सकते हो। पुनः भाव कि तुम सब समूह-के-समूह मिलकर जाओ और समूहवृक्ष और पर्वत ले आओ जिसमें नल-नीलके पास वे धरे रहें। सेतु बनानेमें घटने न पावें। (ग) वृक्ष और पर्वत दोनोंको लानेको कहा; क्योंकि पर्वतोंसे सेतु बाँधा जायगा और उसपर छाया एवं शोभाके लिये वृक्ष लगाये जायँगे अथवा नीचे वृक्ष लगाकर ऊपर पत्थर धरे जायँगे।

नोट—२ वाल्मी० २२ श्लोक ५१ से ५५ तकमें शाल, अश्वकर्ण, ताल, अर्जुन, कुटज, धव, शतपत्र, बेल, तिनिश, तिलक, अशोक, आम इत्यादि अनेक वृक्षोंका लाया जाना लिखा है। **'मेघाभैः पर्वताभैश्च**

तृणैः काष्ठैर्बबन्धिरे। पुष्पिताग्रैश्च तरुभिः सेतुं बध्नन्ति वानराः॥' (वाल्मी० २२। ६१) अर्थात् मेघ तथा पर्वतके समान काष्ठों, तृणों और पुष्पित वृक्षोंसे समुद्रपर पुल बाँधा।

सुनि कपि भालु चले करि हूहा। जय रघुबीर प्रताप समूहा॥ १०॥

अर्थ—जाम्बवन्तजीके वचन सुनकर वानर और भालू हूह (शब्द) करके चले। 'प्रतापपुंज रघुवीर रामजीकी एवं उनके प्रताप समूहकी जय हो' (ऐसा कहते हुए चले)॥ १०॥

टिप्पणी—१ (क) **हूह**=वानरोंका हर्ष-सूचक शब्द है। क्या शब्द किया यह दूसरे चरणमें दिया। (ख) *'तव प्रताप बड़वानल भारी। सोषेउ प्रथम पयोनिधि बारी॥'* हनुमान्‌जीका, यह वचन सुनकर जाम्बवन्तजीने वानरोंसे कहा कि *'राम प्रताप सुमिरि मन माहीं। करहु सेतु प्रयासु कछु नाहीं॥'* यह सुनकर वानर रामप्रताप कहकर चले जिसमें रघुवीरके प्रतापसे सबका पुरुषार्थ सिद्ध हो। (ग) हूह शब्द करके जनाया कि जाम्बवन्तके वचन सुनकर ये रामकार्य करनेके लिये हर्षित हैं। '**अभिपेतुर्महारण्यं हृष्टाः शतसहस्रशः॥**' (वाल्मी० ६। २२। ५०)

नोट—यहाँ 'रघुवीर-प्रतापसमूह' का जय-जयकार करके चले हैं और आगे दिखायेंगे कि इस प्रतापसे ही सब कार्य हुआ, यथा—*'श्रीरघुबीर प्रताप ते सिंधु तरे पाषान'।* दोनों स्थलोंपर 'रघुवीर' पद प्रयुक्त हुआ है। 'रघुवीर' पदका भाव कि सब वानर समरके उत्साही हैं, वीररससे पूर्ण हैं; इसीसे वे वीरतासूचक 'रघुवीर' पद उच्चारण करके जय-जयकार कर रहे हैं।

रा० प्र०—प्रताप-समूहकी जय मानते हैं। हूहा उत्साहवर्द्धक शब्द परस्पर सुनाते हैं। 'समूह' का अन्वय कपि और भालुके साथ भी है।

दो०—अति उतंग गिरि* पादप लीलहि लेहिं उठाइ।
आनि देहिं नल नीलहि रचहिं ते सेतु बनाइ॥ १॥

शब्दार्थ—**उतंग** (उत्तुङ्ग)=ऊँचा, यथा—*'अति उतंग जलनिधि चहुँ पासा।'* (५। ३। ११) **पादप**=पैर अर्थात् जड़द्वारा जल पीनेवाला=वृक्ष। **लीलहि**=लीलापूर्वक, खेल-सरीखा। लीला=वह व्यापार जो चित्तकी उमंगसे केवल मनोरञ्जनके लिये किया जाय, खेल, क्रीड़ा।

अर्थ—अत्यन्त ऊँचे पर्वतों और वृक्षोंको खेलवाड़में ही उखाड़कर उठा लेते हैं, नलनीलको लाकर देते हैं और वे अच्छी तरह रचकर सेतु बनाते हैं॥ १॥

टिप्पणी—१ अत्यन्त ऊँचे वृक्ष और पर्वत लाते हैं जिसमें बहुत दूरतक सेतु बँध जाय। *'लीलहि'* लीलापूर्वक खेल-सरीखा अर्थात् उनके उखाड़ने और उठानेमें कुछ भी परिश्रम नहीं करना पड़ता। जो जाम्बवन्तने कहा था कि *'कौतुक एक भालु कपि करहू'* वही कौतुक यहाँ दिखाया कि खेल-सरीखा ही पर्वतोंको उखाड़ लेते हैं। (ख) *'आनि देहिं'* से जनाया कि जहाँ नल-नील समुद्रपर हैं वहीं लाकर देते हैं। '**ते नगान्नगसंकाशाः शाखामृगगणर्षभाः। बभञ्जुः पादपांस्तत्र प्रचकर्षुश्च सागरम्॥**' (वाल्मी० ६। २२। ५१) पर्वताकार वानर वृक्षों और पर्वतोंको तोड़कर समुद्रमें फेंकने लगे। (ग) *'रचहिं बनाइ'* से सेतुकी अत्यन्त सुन्दरता सूचित की जैसा आगे स्पष्ट है, यथा—*'देखि सेतु अति सुन्दर रचना।'*

बं० पा०—*'रचहिं ते सेतु बनाइ'* में भाव कि पहिले सेतु बनाते हैं फिर उनमें कलाकी सुन्दर रचना करते हैं। इसी भावमें इसका प्रयोग प्राय: सर्वत्र हुआ है। यथा—*'सरजु तीर रचि चिता बनाई। जनु सुरपुर सोपान सुहाई॥'*(१। १७०। ४), *'रचहु बिचित्र बितान बनाई।'* (१। २८७। ६), *'तदपि प्रीति कै रीति सुहाई। मंगल रचना रची बनाई॥'* (१। २९६) इत्यादि।

प० प० प्र०—रावणको दूतोंसे नित्य ही समाचार मिल रहा है कि सेतुबन्धनका विचार हो रहा है तथापि उसने सेतुबन्धनमें विघ्न नहीं डाला और न समुद्रपार सेना भेजकर युद्धारम्भ किया। इससे स्पष्ट है कि वह *'प्रभु सर प्रान तजें भव तरऊँ'* अपने इस मन्त्रपर दृढ़ है। [दूसरे पक्षवाले कहते हैं कि रावण

* का०—'तरु सैलगन'। छ०, भा० दा०—'गिरि पादप'।

भ्रममें पड़ा है वह निश्चिन्त बैठा है कि समुद्रपर सेतु बँध नहीं सकता, तभी तो सेतुबन्धन सुननेपर वह घबरा गया। यथा—'*सुनत श्रवन बारिधि बंधाना। दसमुख बोलि उठा अकुलाना॥*' (६। ५। १०) नर-वानरको तुच्छ समझता है अतः वह निःशङ्क बैठा है। इत्यादि]

सैल बिसाल आनि कपि देहीं। कंदुक इव नल नील ते लेहीं॥ १॥

अर्थ—वानर भारी-भारी पर्वत ला-लाकर देते हैं और नल-नील उन्हें गेंदकी तरह लेते हैं॥ १॥

टिप्पणी—१—ऊपर दोहेमें जो कहा कि '*अति उतंग गिरि पादप लीलहि लेहिं उठाइ। आनि देहिं* ……', वह वानरोंका पराक्रम कहा गया, अब यहाँ '*कंदुक इव नल नील ते लेहीं*' में नल-नीलका पराक्रम कहते हैं कि जैसे उनको उखाड़कर उठा लानेमें परिश्रम नहीं होता वैसे ही इनको ऊपरसे आते हुए हाथसे रोक लेनेमें किञ्चित् श्रम नहीं होता, जैसे गेंदके रोकनेमें श्रम नहीं होता।

टिप्पणी—२—यह चौपाई पुनरुक्ति है। जो बात दोहेमें कही वही अर्थ इस चौपाईमें है। तब इसके कहनेका क्या प्रयोजन था? उत्तर—जाम्बवन्तजीने सेतु रचनेवालों (नल-नील)से कहा था कि सेतु रचनेमें कुछ परिश्रम नहीं है, यथा—'*रचहु सेतु प्रयास कछु नाहीं।*' और तब पर्वत लानेवालों समस्त भालु-वानरोंसे कहा था कि तुमको पर्वत लानेमें कुछ श्रम नहीं है, यथा—'*कौतुक एक भालु कपि करहू*' अर्थात् पर्वत ले आना तुम्हारा कौतुक है। अब कवि दोनों बातोंको चरितार्थ करते हैं—दोहेमें दिखाया कि पर्वत लानेवाले वानरोंको श्रम नहीं हुआ और यहाँ दिखाया कि सेतु रचनेवालोंको श्रम नहीं हुआ। अतः पुनरुक्ति नहीं है।

रा० प्र०—'*कंदुक इव*' दीपदेहरीसे दोनों ओर लगता है।

देखि सेतु अति सुंदर रचना। बिहँसि कृपानिधि बोले बचना॥ २॥

अर्थ—सेतुकी अत्यन्त सुन्दर रचना (बनावट) देखकर दयासागर रामजी हँसकर वचन बोले॥ २॥

टिप्पणी—१—'*देखि सेतु रचना*' कहनेका भाव कि उनके देखनेके लिये ही अत्यन्त सुन्दर रचना की गयी थी जिसमें इसे देखकर उनका मन प्रसन्न हो, यही बात आगे कहते हैं, यथा—'*बाँधि सेतु अति सुदृढ़ बनावा। देखि कृपानिधिके मन भावा॥*' (ख) '*बिहँसि कृपानिधि*' का भाव कि सेतु देखकर प्रसन्न हुए, प्रसन्न होकर वानरोंपर कृपा की। अर्थात् '*बिहँसि*' से अन्तःकरणकी कृपा जनायी, यथा—'**हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥**' जिसके अनुशासनसे माया निमेषमात्रमें अनेक ब्रह्माण्ड रचती है, यथा—'*लव निमेष महुँ भुवन निकाया। रचै जासु अनुसासन माया॥*' (१। २२५। ४३) उसके आगे यह सेतु रचना क्या है; पर श्रीरामजी कृपानिधि हैं, वे इतनी ही सेवासे प्रसन्न हो गये। और भी कृपा आगे कहते हैं कि '*करिहौं इहाँ संभु थापना*'; शिवस्थापनासे अनन्त जीवोंपर कृपा हुई क्योंकि शिवदर्शन करके सब जीव कृतार्थ होंगे। यथा—'*जे रामेस्वर दरसन करिहहिं। ते तनु तजि मम लोक सिधरिहहिं॥ जो गंगाजल आनि चढ़ाइहि। सो साजुज्य मुक्ति नर पाइहि॥ होइ अकाम जो छल तजि सेइहि। भगति मोरि तेहि संकर देइहि॥*' (६। ३। १—३)

बं० पा०—'**बिहँसि कृपानिधि**……' का भाव—(क) '*स्मितपूर्वाभिभाषी च*' अर्थात् यह प्रभुका स्वभाव है कि वे हँसकर बोलते हैं। अथवा, (ख) अपने परमभक्त शिवजीकी प्रतिष्ठावृद्ध्यर्थ करुणा करके शिवस्थापनार्थ हँसकर बोले। अतः '*कृपानिधि*' कहा, यथा—'*गिरिजा रघुपति कै यह रीती। संतत करहिं प्रनत पर प्रीती॥*' (शिववाक्य) वा, (ग) शिवस्थापनाके विचारमें चित्तका उत्साह सूचित किया—'*उत्साहभंगे धनधर्महानिः*' वा, (घ) वानरोंके सम्मानार्थ सेतु देखकर हँसकर अपनी कृतज्ञता सूचित की। वा, (ङ) अपने मनोरथ सीताप्राप्तिकी सिद्धि देख हँसे।

रा० प्र०—कृपानिधिके हँसनेका भाव कि इस सेतुका दर्शन और स्पर्श कर लोग भवसागर पार होंगे। पुनः जलनिधिपर कृपा हुई उसके साहचर्यसे '*कृपानिधि*' कहा।

वीरकवि—यहाँ 'तीसरा सम अलङ्कार' है; क्योंकि जिसके लिये उद्योग किया गया, वह कार्य निर्विघ्न तत्क्षण सिद्ध हो गया।

परम रम्य उत्तम यह धरनी। महिमा अमित जाइ नहिं बरनी॥ ३॥

अर्थ—यह पृथ्वी परम रमणीय (सुन्दर) है, परम उत्तम है, इसकी महिमा अमित (अतोल, सीमारहित) है, वर्णन नहीं की जा सकती॥ ३॥

नोट—१ *'परम रम्य उत्तम यह धरनी'।* इति। (क) *'परम रम्य…'* का भाव कि अन्य धरणी रम्य है, उत्तम है और यह भूमि परम रम्य है, परम उत्तम है। (पं० रा० कु०) अथवा, जितने परम रम्य स्थान हैं उनमें यह उत्तम है। तीर्थ, पुण्य नदी आदिके होनेसे स्थल उत्तम माना जाता है और यह तो सङ्गमस्थल उत्तमस्थल उत्तमोत्तम समुद्रगा है; इसलिये विशेष है। (रा०प्र०) यहाँ दो समुद्रों महोदधि और रत्नाकरका संगम है अतः यह परम रम्य और परम उत्तम है। जहाँ सरिता-समुद्र-संगम होता है वह रम्य और उत्तम है। (पं० मा० म०) पुनः, समस्त पुण्य नदियोंका तट परम रम्य माना जाता है और समुद्र तो समस्त तीर्थों और नदियोंका पति और सर्वतीर्थमय है, अतः उसका तट परम रम्य और अतिपावन है। (गौड़जी, खर्रा)

यह द्रविड़ देश है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि इस देशमें भगवद्भक्त बहुत होंगे, अतः संतोंकी जन्मभूमि होनेसे इसे परम उत्तम कहा गया। यथा—**'क्वचित्क्वचिन्महाराज द्रविडेषु च भूरिशः। ताम्रपर्णी नदी यत्र कृतमाला पयस्विनी॥ कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी। ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा मनुजेश्वर। प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवेऽमलाशयाः॥'** (११। ५। ३९-४०) अर्थात् हे राजन्! कलियुगमें भगवद्भक्त कहीं-कहीं कोई होंगे। अधिकतर द्रविड़ देशमें बहुतसे भगवद्भक्तजन उत्पन्न होंगे। द्रविड़ देशमें ताम्रपर्णी, कृतमाला, पयस्विनी, कावेरी और महापवित्र प्रतीची आदि नदियाँ बहती हैं। हे नरेश! जो लोग उनके पवित्र जलको पान करते हैं, उनका हृदय शुद्ध हो जाता है और वे सज्जन भगवान् वासुदेवके दृढ़ भक्त होते हैं।

पद्मपुराणान्तर्गत श्रीमद्भागवतमाहात्म्यमें इस देशको भक्तिका उत्पत्तिस्थान भी कहा है। यथा—**'उत्पन्ना द्रविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता। क्वचित् क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता॥'** (भा० माहात्म्य १। ४८) (भक्ति कहती है कि) मैं द्रविड़ देशमें उत्पन्न हुई, कर्णाटकमें बढ़ी, कुछ-कुछ महाराष्ट्र देशमें और सर्वथा गुजरातमें जीर्ण और बूढ़ी हुई। —अतः इस भूमिको उत्तम कहा। (बं० पा० पाँ०) और भी भाव ये कहे जाते हैं—यह अष्टवैकुण्ठान्तर्गत है। (मा०म०,मा० शं०) अथवा, श्रीजानकीजीकी प्राप्तिके सब उद्योग यहाँ सिद्ध हुए और जानकी-विरह मिट गया। दूसरे, देवाराधनके निमित्त एक पर्वत सिद्धपीठ है और यहाँ तो अनेक पर्वतोंका मिलाप हो गया है तथा यह समुद्रतट है। अतएव पवित्र कहा।

नोट—२ मुनियोंको भानेवाली, प्रभुको सुख देनेवाली और मनोहर होनेके सम्बन्धसे *'परम रम्य'* विशेषण स्थानोंको जहाँ-तहाँ दिया गया है, यथा—*'परम रम्य आराम येहु जो रामहिं सुख देत।' (१। २२७)*, *'परम रम्य मुनिबर मनभावन।'* (१। ४४। ६) पुनः यहाँ शिवजीका बास होगा इससे परम रम्य कहा, यथा—*'परम रम्य गिरिबरु कैलासू। सदा जहाँ शिव उमा निवासू॥'* (१। १०५। ८) पुनः वह स्थल है ही बड़ा रमणीक। यहाँपर प्रभु स्वयं इस स्थलको *'परम रम्य उत्तम'* कहकर जनाते हैं कि उनको सेतुतीर्थ स्थल देखकर बड़ा ही सुख प्राप्त हो रहा है।

टिप्पणी—१ (क) सुन्दर और उत्तम स्थानमें उत्तम पुरुष वास करते हैं, यथा—*'आश्रम परम पुनीत सुहावा। देखि देवरिषि मन अति भावा॥'* (१। १२५। २), *'सुचि सुंदर आश्रम निरखि हरषे राजिवनयन।'* (२। १२४), *'है प्रभु परम मनोहर ठाऊँ। पावन पंचबटी तेहि नाऊँ॥'* (३। १३। १५), अतएव सुन्दर और उत्तम पृथ्वी जानकर उसमें शिवजीके स्थापनाकी इच्छा की। (ख) इस स्थानपर शिवजीकी स्थापना करना चाहते हैं; इसीसे पहिले धरणीका माहात्म्य कहा और आगे शिव-स्थापन करनेपर स्थापित शिवका माहात्म्य कहा है; यथा—*'जे रामेश्वर दरसन करिहहिं। ते तनु तजि सुरलोक सिधरिहहिं॥'* इसी तरह सेतु बाँधकर सेतुका माहात्म्य कहा है; यथा—*'मम कृत सेतु जो दरसन करिही। सो बिनु श्रम भवसागर तरिही॥'*

मा० म०—इसी स्थानसे श्रीहनुमान्जी लङ्का (उस पार) गये थे। अतएव शम्भुस्थापनके मिष यहाँ रुद्र श्रीहनुमान्जीहीको मानो स्थापन करेंगे। इसीसे स्थल परम रम्य और उत्तम लग रहा है।

गौड़जी—'परम रम्य यह उत्तम भूमि है, इसकी महिमा अमित है……', इस कथनका क्या कारण है? क्या इससे उत्तम भूमि कहीं और न थी?

यह लोकप्रसिद्ध बात है कि सब नदियाँ और उनका तट परम रम्य माना जाता है। इस विचारसे भारतवर्षमें भौगोलिक दृष्टिसे देखिये तो जितने पवित्र और बड़े-बड़े तीर्थ-स्थान हैं वह सब नदियोंके किनारे हैं, जैसे मथुरा, प्रयाग, काशी आदि। उसपर भी समुद्र सब नदियोंका पति है; क्योंकि सभी नदियाँ उसके अन्तर्गत हैं, इसलिये समुद्र अति पावन तीर्थ है और उसका तट परम रम्य है। जलतट और पवित्र स्थलमें देवस्थान होना अत्युत्तम है, इस विचारसे श्रीरघुनाथजीने कहा कि यह स्थान पवित्र और परम रम्य है, यहाँ शम्भु-स्थापना करूँगा।

यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि यह स्थान भारत-जैसे विशाल देशकी सीमा है। यहाँ अवश्य ही कोई-न-कोई पवित्र तीर्थ-स्थान होना ही चाहिये; क्योंकि इसमें दो लाभ हैं—एक तो यह कि दक्षिणमें शिवकाञ्ची और विष्णुकाञ्ची दोनों तीर्थोंकी सीमा मिलती है। शैवों और वैष्णवोंमें परस्पर विरोध रहता है। यदि यहाँ दोनों तीर्थोंके अलग-अलग होते वैष्णवद्वारा शिवकी स्थापना की जाय भी तो परस्परका विरोध कम होगा। दूसरे जो यहाँतक तीर्थयात्रा करेंगे वे देशाटनके लाभ उठायेंगे और परस्परका मेल-मिलाप बढ़ेगा। बड़े लोग इसी दृष्टिसे तीर्थ स्थापित करते हैं। —(रामचरितमानसकी भूमिकासे उद्धृत)

करिहौं इहाँ संभु थापना। मोरे हृदय परम कलपना*॥ ४॥

शब्दार्थ—**थापना** (स्थापना)=स्थापित करना, (मूर्त्तिकी) प्रतिष्ठा करना। **कलपना** (कल्पना)= भावना, संकल्प।

अर्थ—यहाँ शिवजीकी स्थापना करूँगा (यह) मेरे हृदयमें परम कल्पना है॥ ४॥

'परम कलपना'

पु० रा० कु०—'*परम कलपना*' अर्थात् बड़ी इच्छा है, इस कथनसे जनाया कि जो हमको परम प्रिय है। (बारम्बार विचार हृदयमें उठ रहा है)।

पां०—रावण शङ्करजीका परम दास है। अतएव शंकरजीकी इस पार स्थापना करके उनको प्रसन्न करते हैं—(पं०), जिसमें रावणका विनाश देख उनका चित्त उदास न हो। पुनः, दूसरा कारण यह है कि शैव-वैष्णव-विरोध मिटाने, दोनोंका अधर्म और अज्ञान निवारण करनेके लिये यह परम सङ्कल्प है।

रा०प्र०—रा० प० में जो कहा है कि 'शम्भुवरदानसे रावण उन्मत्त है इससे राजनीतिके अनुसार उनको अपनी ओर करनेके लिये स्थापना की।' इसमें शङ्का यह होती है कि राम और शिव दोनों परस्पर प्राणप्रिय हैं तब उनको अपनी ओर कर लेना कैसे लिखा? समाधान यह है कि सेवकका पराभव सुन व्याकुल हो प्रियकी सुध भूल न जायँ, यह समझाना अपनी ओर करना है।

श्रीहरिजनलालजी—इस काण्डमें रघुनाथजीने विशेष राजनीतिका उपदेश किया है। इससे यह सूचित करते हैं कि जब शत्रुपर चढ़ाई की जाय तो प्रथम उसके मन्त्री आदिको जो शत्रुके पूर्ण मर्मका ज्ञाता हो तथा शत्रुका जो प्रबल सहायक हो उसको मिला लेना चाहिये। इस नीतिके अनुसार पूर्ण मर्मज्ञ विभीषणको मिला लिया। अब रावणके प्रबल सहायक श्रीशंकरजी हैं, उनको भी मिलाना चाहते हैं, अतएव स्थापना करनेकी इच्छा हुई है। स्थापना और भक्तियुत पूजन, स्तुति आदि करके उन्हें भी मिला लिया है, यह श्रीशंकरजीके श्रीमुखवचनसे स्पष्ट है। यथा—(शंकर सती प्रति) '**भक्तहेतोरहं देवि रावणं सगणं क्रुधा। त्यजति स्म कृतो नैव पक्षपातो हि तस्य वै॥**' (शिवपुराण रु० सं० सती खं०२—अ० २३। ४४) अर्थात् हे देवी! (श्रीरामभक्त) के निमित्त ही मैंने रावणको क्रोध करके गणोंके सहित त्याग दिया, उसका पक्ष नहीं किया, नहीं तो कहीं शंकरजी रावणकी सहायताके लिये न आ जाते जैसे कृष्णावतारमें बाणासुरके पक्षमें आकर युद्ध किया है। वैसा होनेसे श्रीरामजीको बड़ा असमञ्जस होता, क्योंकि वे वधकी प्रतिज्ञा कर चुके हैं और शङ्करजी उसे शरणागत न करा दें।

नोट—महाशिवपुराण चतुर्थी कोटि रुद्रसंहिता अध्याय ३१ श्लोक २१ आदिमें यों कहा है कि पार्थिव-

* कल्पना (का०)

पूजन करके श्रीरामजीने प्रणाम किया और स्तुति की कि रावण प्रबल है, आपने ही उसे वरदान दिया है। मुझ भक्तकी रक्षा कीजिये। इस युद्धमें सहायता कीजिये, आपकी सदा जय हो।'.....शङ्करजी प्रकट हो गये। तब रघुनाथजीने उनका पूजन किया और शङ्करजी लिङ्गरूपसे वहाँ स्थित हो गये।

गौड़जी—*'करिहौं.....कलपना'।* यहाँ १५-१५ मात्रा होनेसे चौपाई छन्दकी अर्द्धाली है। ऐसा देखकर कुछ लोगोंका कहना है कि यह क्षेपक है। परंतु क्षेपक समझकर इसे निकाल दें तो पूर्वापर-प्रसङ्ग नष्ट हो जाता है। इसके सिवा मानसमें अन्यत्रकी बीच-बीचमें चौपाईकी अर्धालियाँ आयी हैं—जैसे-*'मुठिका एक महा कपि हनी। रुधिर बमत धरनी ढनमनी॥'* (५। ४। ४) अतः यहाँकी १५ मात्रा कोई असाधारणता नहीं है। आर्यसमाजी मूर्तिपूजाके विरोधी होनेके कारण और कुछ कट्टर वैष्णव मोहवश शिवद्रोही होनेके कारण इस प्रसङ्गको मानससे निकाल देना चाहते हैं। परंतु इसे निकालना तो रगपर नश्तर मारना है। विष्णु और शिवका अभेद दिखाना तो मानसका चरम उद्देश्य है जो इसी स्थलपर परिपक्व होकर अपने पूर्ण परिणामको पहुँचता है। यदि यही प्रसङ्ग प्रक्षिप्त है तो सारे मानसको ही प्रक्षिप्त मानना पड़ेगा। आरम्भमें ही सीतारूपधारिणी सतीको माता सम्बोधन करके *'जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामु। पिता समेत लीन्ह निज नामू॥'* आदि भी प्रक्षिप्त होना चाहिये। भरतजीका *'सिव अभिषेक करहिं बिधि नाना'* और श्रीरामजीका *'पूजि पारथिव नायउ माथा।'* आदि भी प्रक्षिप्त हो जायगा। प्रक्षिप्त बनाते-बनाते सारी पोथी निर्जीव हो जायगी। '**शाम्भवानां यथा विष्णुर्वैष्णवानां तथा शिवः**' यहीं चरितार्थ होता है। इसके आगे *'लिंग थापि बिधिवत करि पूजा'* उसके लिये सर्वथा समीचीन और सुसङ्गत है जो पार्थिव-पूजा और शिव अभिषेक करता ही आया है।

बं० पा०—मानस रामायणमें जिसे सब लोग चौपाई कहते हैं, उसमें चार जातिके छन्द हैं। चार चरणकी एक चौपाई कहलाती है। जिसमें १६ मात्राएँ हों और अन्तिम वर्ण लघु हो, वह शुद्ध '**चौपाई**' छन्द है। जिसमें १६ मात्राएँ हैं और अन्तके दो वर्ण गुरु हैं वह 'पायाकुलक' छन्द है। जिसमें दो चरण चौपाईके हैं और दो पायाकुलकके वह अलिनी छन्द है। और जिसमें कुल १५ मात्राएँ होती हैं और अन्तिम वर्ण गुरु होता है वह चपला छन्द है। परन्तु अब इन चारों जातिके छन्दोंको लोग चौपाई ही कहते हैं। यदि चौपाईकी प्रस्तार पिंगलकी रीतिसे करके देखें तो १५९७ भेद होते हैं। जिसके तुकमें आठों अक्षर गुरु हैं वह प्रथम भेद चौपाईका है, यथा—*'झूठैं लेना झूठै देना।'* में जिसमें सोलहों अक्षर लघु हों वह १५९७ वाला अन्तिम भेद चौपाईका है।—(शंकावली)

प० प० प्र०—यहाँ एक-एक मात्राकी न्यूनता तथा गतिविच्छेद करके बताया है कि शङ्करजीका स्मरण करते ही श्रीरामजी गद्‌गद कण्ठ हो गये। *'कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरें'* इसका कारण है। *'संतत दासन्ह देहु बड़ाई'* यही शिवस्थापनमें हेतु है। माधुर्यभावमें शिवजी उपास्य हैं, ऐश्वर्यभावमें शिवजी उपासक हैं।

सुनि कपीस बहु दूत पठाए। मुनिबर सकल बोलि लै आए॥५॥

अर्थ—श्रीरामजीके वचन सुनकर वानराधीश सुग्रीवने बहुत-से दूत भेजे जो सब श्रेष्ठ मुनियोंको बुलाकर ले आये॥ ५॥

टिप्पणी—पूर्व यह तो कहा कि *'बिहँसि कृपानिधि बोले बचना'* पर यह न कहा था कि किससे बोले, वह बात अब यहाँ खोली कि सुग्रीवसे यह बात कही थी इसीसे यहाँ सुग्रीवका सुनना कहा। (ख)—बहुत-से मुनियोंको बुलाना था इससे बहुत-से दूत भेजे—(शीघ्रताके लिये भी ऐसा किया जिसमें एक-एक दूत एक-एकको बुला लावे)। (ग) बहुत-से मुनियोंको बुलानेका कारण यह कि शिवस्थापनमें बहुत-से वेदपाठी ब्राह्मण होने चाहिये। पुनः, दूसरा भाव यह कि यह सब वन है, उस वनमें जितने मुनि थे उन सबोंको बुलाया जिसमें किसीका अपमान न हो, कोई यह न कहे कि अमुक-अमुकको बुलाया हमको न बुलाया।

लिंग थापि बिधिवत करि पूजा। सिव समान प्रिय मोहिं न दूजा॥६॥
सिवद्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहु मोहि न पावा॥७॥
संकर बिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥८॥

शब्दार्थ—लिंग=चिह्न, शिवजीकी प्रतिमा। **नारकी**=नरक भोगनेवाला, नरकमें जाने योग्य कर्म करनेवाला, पापी।

अर्थ—शिवलिंग (मूर्ति) स्थापित करके विधिपूर्वक पूजा कर* (प्रभु बोले) शिवजीके समान दूसरा कोई मुझे प्रिय नहीं है॥ ६॥ जो शिवद्रोही है और मेरा भक्त कहलाता है वह मनुष्य मुझे स्वप्नमें भी नहीं पाता॥ ७॥ शंकरजीसे विमुख होकर जो मेरी भक्तिकी चाह करे वह नरकगामी है, मूर्ख है और क्षुद्रबुद्धि है॥ ८॥

टिप्पणी—१(क) पूजाके बाद स्तुति करना चाहिये, यहाँ प्रभु पूजाके बाद उपदेशरूप स्तुति कर रहे हैं। (ख) *'बिधिवत'* पद देकर जनाया कि प्राणप्रतिष्ठा की, जैसा वेदमें लिखा है वैसा पूजन किया। (ग) शिवजीमें रामजीकी भक्ति तन-मन-वचनसे है—*'मोरे हृदय परम कलपना'*, यह मनकी भक्ति है, हृदय मन है; *'लिंग थापि बिधिवत करि पूजा'* यह तनकी भक्ति है और, *'सिव समान प्रिय मोहि न दूजा'* यह वचनकी भक्ति हुई।

नोट—१ यह लिङ्ग १२ ज्योतिर्लिङ्गोंमेंसे एक है। ऐसा शङ्करजीने स्वयं प्रकट होकर कहा है। '**ओंकारः सोमनाथश्च त्र्यम्बको मल्लिकार्जुनः। नागेशो वैद्यनाथश्च काशिविश्वेश्वरस्त्वहम्॥ केदारेशो महाकालो भीमेशो घुसृणेश्वरः। एवमेकादश ज्ञेया ज्योतिर्लिङ्गं मया शुभाः॥**', '""**ज्योतिर्लिङ्गं द्वादशमं तव रामेश्वराभिधम्॥**' (आ० रा० १। १०। १६८-१६९, १७८, शिववाक्य)

नोट—२ *'सिव समान प्रिय मोहि न दूजा।'* इति। इस चरणमें लिङ्गरूपसे शिव-स्थापन करनेका एक कारण बताया कि शङ्करजी हमको परम प्रिय हैं, वे भक्तोंमें अग्रगण्य हैं, यथा—'**वैष्णवानां यथा शम्भुः।**' (भा० १२। १३। १६) अतः मैंने उनकी स्थापना की। शिवसमान कोई प्रिय नहीं है। यह याज्ञवल्क्यजी आदि तथा भगवान्ने स्वयं अन्यत्र भी कहा है। यथा—*'पनु करि रघुपति भगति देखाई। को सिव सम रामहि प्रिय भाई॥'* (१। १०४) '**शिवस्य हृदयं विष्णुः विष्णोश्च हृदयं शिवः**'। पूर्व नारदजीसे भी यही कहा है, यथा—*'कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरें। अस प्रतीति तजहु जनि भोरें॥'* (१। १३८। ६) प्रियत्व कैसा है कि प्रभु कहते हैं कि *'जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥'* (१। १३८। ७) यह प्रियत्वका स्वरूप नारदसे कहा है। आ० रा० काण्ड १ अ० १० श्लो० ७१ आदिमें लिङ्गस्थापनकी कथा इस प्रकार है कि रघुनाथजीने हनुमान्‌जीसे कहा कि काशी जाकर विश्वनाथजीको मुहूर्तभरमें यहाँ स्थापनाके लिये ले आओ। काशी आनेपर इन्होंने देखा कि शङ्करजी और अगस्त्यजीका सत्सङ्ग हो रहा है, ये सत्सङ्ग-समाप्तिकी राह देखने लगे। इतनेमें वह मुहूर्त भी जाने लगा तब ऋषियोंने रघुनाथजीसे कहा कि मुहूर्त जाता है, शीघ्र स्थापना कीजिये। श्रीरामजीने तुरंत तीन अञ्जलि बालू ले उसीके लिङ्ग स्थापित कर दिया। यथा—'**ततः सागरसंयोगे स्वनाम्ना लिंगमुत्तमम्। स्थापयामीति निश्चित्य मारुतिं वाक्यमब्रवीत्॥ ७१॥ काशीं गत्वा शिवाल्लिङ्गमाननीयमनुत्तमम्। मुहूर्तमध्ये नो चेन्मे मुहूर्तातिक्रमो भवेत्॥ ७२॥""तद्गर्वं राघवो ज्ञात्वा सुग्रीवादीन् वचोऽब्रवीत्। मुहूर्तातिक्रमो मेऽद्य भविष्यति ततस्त्वहम्॥ कृत्वा लिङ्गं सैकतं च सेत्वादौ स्थापयामि वै। इत्युक्त्वा वानरान् सर्वान्मुनिभिः परिवेष्टितः॥ सैकतं स्थापयामास लिङ्गं रामो विधानतः।**' (आ० रा० १। १०। १२२—१२४)

रघुनाथजीने कौस्तुभमणिका स्मरणकर उसीसे उन्होंने ऋषियोंको भोजन कराया और दान दिया यथा—'**तदा संस्मार मनसि कौस्तुभं रघुनन्दनः॥ तावद्ययौ मणिः शीघ्रं खात्कोटितपनोपमः। तं बबन्ध मणिं कण्ठे कौस्तुभं रघुनन्दनः॥ ततस्ते मुनयस्तुष्टा राघवेणातिपूजिताः। ययुः स्वीयाश्रमान् मार्गे तान् ददर्श स मारुतिः॥**' (आ० रा० १। १०। १२४—१२७)

पाँ०—यहाँ कविने शङ्करजीके अनेक शोभन नामोंको छोड़कर लिङ्गस्थापन लिखा है; क्योंकि कोई-कोई शिवजीके और नामोंका अर्थ और-का-और करते हैं। जैसे वाल्मीकिके 'महादेव' शब्दका अर्थ किसी-किसीने समुद्र किया है। 'लिङ्ग' स्थापन लिखकर गोस्वामीजीने वह अड़चन निकाल दी क्योंकि यह शब्द केवल शङ्करजीके लिये रूढ़ है।

---

*'इत्युक्त्वा स्थापयामास स्वनाम्ना लिंगमुत्तमम्। रामेश्वराग्निदिग्भागे कुम्भजन्मा मुदान्वितः॥ पूजयामास तल्लिङ्गमगस्तीश्वरनामकम्। नत्वा स्तुत्वा विश्वनाथं रामं रामेश्वरं तथा॥ (आ० रा० १। १०। ९१-९२)

वि० त्रि०—सरकारने सावयव मूर्ति शिवजीकी स्थापन न करके लिङ्गस्थापन इसलिये किया कि सावयव मूर्तिसे लिङ्गकी महिमा अधिक है, यथा—'**मूले ब्रह्मा तथा मध्ये विष्णुस्त्रिभुवनेश्वरः। रुद्रोपरि महादेवः प्रणवाख्यः सदाशिवः॥ लिङ्गवेदी महादेवो लिङ्गसाक्षान्महेश्वरः। तयोः सम्पूजनान्नित्यं देवी देवश्च पूजितौ॥**' (लिङ्गपुराण) अर्थात् लिङ्गके मूलमें ब्रह्माजी, मध्यमें त्रिलोकीनाथविष्णुजी और उपरिभागमें प्रणव नामवाले शङ्करजी स्थित हैं, लिङ्ग वेदी अर्थात् जलधरी महादेवी हैं और लिङ्ग साक्षात् महेश्वर हैं। लिङ्ग वेदी और लिङ्गके पूजनसे देवी और देवताका पूजन हो जाता है। भगवान् शङ्कराचार्य कहते हैं—'**लिङ्गमध्ये जगत्सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्। लिङ्गाद् ब्रह्म परं नास्ति तस्माल्लिङ्गं प्रपूजयेत्॥**' अर्थात् सचराचर सम्पूर्ण जगत् तीनों लोक लिङ्गमें हैं, लिङ्गसे परे कोई ब्रह्म नहीं है, इसलिये लिङ्गकी पूजा करनी चाहिये। महाभारतमें तो व्यासजीने अश्वत्थामासे अपने पराजयका कारण पूछनेपर कहा कि तुमने महादेवजीके सावयव मूर्त्तिकी पूजा की है, और कृष्णार्जुनने लिङ्गका पूजन किया, अतः युद्धमें विजय कृष्णार्जुनकी होगी। अतः मर्यादापुरुषोत्तमने विजयके लिये सावयवमूर्त्ति स्थापन न करके लिङ्गकी ही स्थापना की, और पूजा की। सरकारसे स्थापित होनेके कारण श्रीरामेश्वर-लिङ्ग ज्योतिर्लिङ्ग माना गया। ज्योतिर्लिङ्ग बारह हैं और वे शिवावतार माने जाते हैं।

पं० श्रीकान्तशरणजी—'*सिव समान प्रिय मोहि न दूजा*' इति। भक्त-दृष्टिसे ही श्रीरामजीने इन्हें प्रिय कहा है। 'प्रिय' शब्दका व्यवहार अन्यत्र भी भगवान्‌ने भक्तके लिये ही किया है; यथा—'**भक्तिमान्यः स मे प्रियः।**' '**यो मद्भक्तः स मे प्रियः**'। (श्रीगीताजी १२। १४, १६)

श्रीगोस्वामीजीने पहले ही सती-मोह-प्रसंग कहा और उसमें श्रीशिवजीकी श्रीरामजीमें अत्यन्त उच्च निष्ठा दिखलायी और सतीकी परीक्षाद्वारा श्रीरामजीका पर-ब्रह्म-परत्व प्रकट किया। साथ ही श्रीशिवजीका जीवत्व भी; यथा—'*तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सब जाना॥*' (बा० दो० ५५) श्रीशिवजीको जिन सतीका चरित जाननेके लिये ध्यान धरना पड़ा उन्हीं सतीके कपट-रूपको देखते ही श्रीरामजीने स्पष्ट कह दिया कि आप सती हैं, शिव-पत्नी हैं इत्यादि।

पुनः जहाँ-तहाँ श्रीरामजीका श्रीशिवजीको प्रणाम करने आदिका वर्णन है, वहाँ स्तुतिवाद है। स्तुतिमें छोटेको बड़ा कहकर प्रशंसा की जाती है। परंतु जहाँ प्रशंसामें अधिकता कही गयी है, वहीं समाधान भी दे दिया गया है; जैसे कि वैदिक मुनि श्रीशिवजीके अनन्य भक्त थे, ये स्तुतिमें श्रीशिवजीको कहते हैं—'**निजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहं। चिदाकाशमाकाशवासं भजेऽहं। निराकारमोंकारमूलं तुरीयं। गिरा ज्ञान गोतीतमीशं गिरीशं॥**' (उ० दो० १०७) इसमें उन्हें परब्रह्म कहकर स्तुति की गयी है। इसी प्रसंगमें पहले ही उन्हें वैदिक मुनिने कहा है; यथा—'*सिव सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति रामपद होई॥ रामहि भजहिं तात सिव धाता। नर पामर कर केतिक बाता॥ जासु चरन अज सिव अनुरागी। तासु द्रोह सुख चहसि अभागी॥*' (उ० दो० १०५) इन वचनोंमें श्रीशिवजी जीव हैं और श्रीरामजीके भक्त हैं। इसमें स्तुतिवाद नहीं है। क्योंकि मुनि अपने शिष्यको तत्त्वोपदेश दे रहे हैं।

वैसे ही यहाँ श्रीरामजीने अपने परम भक्त श्रीशिवजीको प्रतिष्ठा देनेके लिये माधुर्य रूपसे लिङ्ग-स्थापन-विधिसे उनकी पूजा की है। पूजावाद भी स्तुतिवादका-सा आदरके लिये होता है। इस युक्तिसे लिङ्गपुराण आदिका मत भी लेकर श्रीशिवजीको ब्रह्मतत्त्व भी दिखलाया है।

श्रीगोस्वामीजी '**नानापुराणनिगमागमसम्मत**' लेकर चल रहे हैं। अतः स्तुतिवाद एवं पूजावादके रूपमें और पुराणोंके मत भी दिखा देते हैं। कल्पभेदसे अन्य पुराणोंके मत भी युक्तियुक्त ही हैं। जैसे पूजावादकी दृष्टिसे यहाँ लिङ्गपुराणका मत भी कह दिया है।......'

[नोट ३—पुराणोंमें ही नहीं किंतु श्वेताश्वतरादि उपनिषदोंमें भी श्रीशिवजीको ब्रह्म कहा है। इस सम्बन्धमें मानस-पीयूष बालकाण्ड ५८ (५-८) आदि कई स्थानोंपर प्रकाश डाला गया है। जैसे उपनिषदोंमें उनको ब्रह्म कहते हुए भी उनकी उत्पत्ति श्रीमन्नारायणसे और उनका श्रीरामोपासक होना कहा गया है, वैसे ही मानसमें उनको ब्रह्म कहते हुए भी श्रीरामजीका उपासक कहा गया। उपनिषदोंमें ऐश्वर्यभावसे श्रीरामजीका

शिवोपासक होना नहीं पाया जाता। माधुर्यमें क्षत्रिय राजाके भावसे शिवपूजन पुराणोंमें मिलता है।]

सि० ति०—यदि कहा जाय कि लिङ्गस्थापनविधिमें सच्चिदानन्द ब्रह्मकी ही प्रतिष्ठा लिङ्ग-स्वरूपमें होती है। जब श्रीरामजी भी ब्रह्म हैं तब उन्होंने शिवजीको ब्रह्म मानकर कैसे उनकी प्रतिष्ठा की? तो इसका समाधान यही है कि 'प्रतिष्ठा-विधान तो आप राजकुमारके रूपसे ही कर रहे हैं। जैसे राजा एवं राजपुत्र सभी देवताओंको समय-समयपर पूजते हैं वैसे श्रीरामजीने भी पूजा की। जैसे श्रीरामजी माता, पिता एवं वसिष्ठ आदिको पूजते थे; उन्होंने गङ्गा, त्रिवेणी आदिकी भी पूजा की है, वैसे ही श्रीशिवजीकी भी पूजा की। श्रीशिवजी आपकी एक विशिष्ट विभूति भी हैं। पुराणोंमें कल्पभेदसे इनसे सृष्टिका भी विधान है, प्रभुने वह महत्त्व लेकर पूजा की और लोकोंमें अपने भक्तकी प्रतिष्ठा बढ़ायी। जिस देवताका जो ऐश्वर्य किसी कल्पमें होता है, वह दूसरे कल्पोंमें उसके उपासकोंका विषय होता है। प्रमाण—**'सर्वे शाश्वता नित्या देहास्तस्य परात्मनः।'** (वाराहपुराण) श्रीवाल्मीकिजीने भी श्रीरामजीका अश्वमेधयज्ञ करना लिखा ही है और—**'जेपतुः परमं जपम्'** (वाल्मी० १। २३। ३), अर्थात् किसी परम जपका जपना भी कहा है। यह सब राजकुमार-दृष्टिसे ही संगत होगा।

टिप्पणी—२ (क) ***'मम भगत कहावा'*** का भाव कि वह भक्त कहलाता भर है पर मेरा भक्त है नहीं, वह भक्तिहीन है, क्योंकि शिवद्रोहीको मेरी भक्ति नहीं मिलती जैसा आगे कहते हैं—***'संकर बिमुख भगति चह मोरी। ……'*** (ख) ***'सो नर सपनेहु मोहि न पावा'*** का भाव कि शंकरकी कृपासे हम मिलते हैं, शंकर-द्रोही हमारा वैरी है, यथा—***'मानत सुख सेवक सेवकाई। सेवक बैर बैर अधिकाई॥'*** (२। २१९। २) अन्यत्र भी ऐसा ही कहा है। यथा—***'सिवपदकमल जिन्हहिं रति नाहीं। रामहि ते सपनेहु न सोहाहीं॥'*** (१। १०४। ५) रामभक्तका लक्षण श्रीयाज्ञवल्क्यजीने यह बताया है—***'बिनु छल बिस्वनाथ पद नेहू। राम भगत कर लच्छन एहू॥'*** (१। १०४। ६)

टिप्पणी—३ ***'संकर बिमुख'*** इति। (क) प्रथम 'शिवद्रोही' ***'मोहि न पावा'*** कहा। अब ***'संकर बिमुख'*** होकर अपनी भक्ति (अर्थात् श्रीरामभक्ति) की इच्छा करनेवालेको ***'मूढ़ मति थोरी'*** कहते हैं। भाव यह कि शङ्करद्रोहसे न हम मिलते हैं, न हमारी भक्ति मिले। (ख) ***'नारकी मूढ़ मति थोरी'*** में तीन बातें तीन सम्बन्धमें कहीं—शंकरविमुख होनेसे नरकगामी हुआ; शंकरविमुख होकर मेरी भक्ति चाहता है; क्योंकि मूढ़ है; यदि वेद-पुराण पढ़े होता तो जान लेता कि शिवद्रोहीको भगवान्‌की भक्ति नहीं मिलती; और वेद-पुराण पढ़ा है पर मन्दबुद्धि है इसीसे यह रहस्य नहीं समझ सकता। नहीं तो पुराणोंमें स्पष्ट लिखा है कि शिवजी वैष्णवोंमें अग्रगण्य हैं। यथा—**'वैष्णवानां यथा शम्भुः।'** (भा० १२। १३। १६) यह उसने पढ़ा है फिर भी भक्तापराध करता है।

नोट—४ ***'सिवद्रोही मम भगत कहावा'*** से लेकर ***'घोर नरक महँ बास'*** तक लिङ्गस्थापनका दूसरा कारण कहा गया। मेरे भक्त शिवद्रोह न करें और शिवभक्त भगवद्‌द्रोह न करें यह उपदेश भी है। जब दोनों श्रद्धासे यहाँ आयँगे तो परस्परका विरोध न रह जायगा।

दो०—संकर प्रिय मम द्रोही सिवद्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास॥ २॥

अर्थ—जिनको श्रीशंकरजी तो प्रिय हैं परन्तु मेरे द्रोही हैं एवं जो शिवद्रोही हैं और मेरे दास हैं, वे मनुष्य कल्पभर घोर नरकमें वास करते हैं। भाव कि ऐसा करना बड़ा पाप है और बड़े पापसे घोर नरक होता है॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) समानार्थी श्लोक यह है। **'मद्भक्तः शंकरद्वेषी मद्द्वेषी शङ्करप्रियः। तावुभौ नरकं यातौ यावच्चन्द्रदिवाकरौ।'** (अज्ञात) (ख)—पूर्व जो 'नारकी' कहा था—***' सो नारकी मूढ़मति थोरी'*** उसका अर्थ यहाँ स्पष्ट किया कि ***'ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महँ बास।'*** कल्प ब्रह्माके दिनको कहते

हैं। जब ब्रह्मा सोये तब प्रलय हुआ। कल्पभर अर्थात् प्रलयतक। घोर नरकमें वास करना कहकर जनाया कि यह घोर पाप है इसीसे घोर नरक हुआ। श्रीरामजी यह उपदेश मनुष्योंको दे रहे हैं, इसीलिये आपका अवतार ही है। यथा—**'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणम्।'** (भा० ५। १९। ५)

टिप्पणी-२ यहाँ शङ्का होती है कि राक्षसोंने तो श्रीरामजीसे वैर किया और शिवजीकी उपासना की तब वे नरकमें क्यों न पड़े? समाधान यह है कि वे श्रीरामजीके बाणसे मरे और उन्होंने (मरते समय) रामनाम उच्चारण किया; अतएव वे मुक्त हो गये।

जे रामेश्वर दरसन करिहहिं। ते तनु तजि मम लोक सिधरिहहिं॥ १॥

जो गङ्गाजलु आनि चढ़ाइहि। सो साजुज्य मुक्ति नर पाइहि॥ २॥

शब्दार्थ—**साजुज्य** (सायुज्य)=पाँच प्रकारकी मुक्तियोंमेंसे एक यह है जिसमें जीव ईश्वरके विग्रहमें युक्त हो जाता है। (प्र० सं०) जिसका भगवान्‌से निरन्तर संयोग रहे। यह मुक्ति दो प्रकारकी होती है—(१) परिकर, (२) परिच्छद। परिच्छद वे हैं जो भूषण-वस्त्ररूपसे नित्य-संयुक्त रहते हैं। परिकर वे हैं, जो सेवा करते हैं, क्षणभरके लिये भी प्रभुसे पृथक् होते ही व्याकुल हो जाते हैं (सि० ति०)।

अर्थ—जो श्रीरामेश्वर महादेवका दर्शन करेंगे वे शरीर छोड़कर मेरे लोकको जायँगे॥ १॥ जो गङ्गाजल लाकर इनपर चढ़ायेगा वह मनुष्य सायुज्य मुक्ति पायेगा॥ २॥

नोट—१ *'जे रामेश्वर'* इति। पूर्व जब स्थापनाके लिये कहा, तब *'करिहौं इहाँ संभु थापना'* ये शब्द कहे अर्थात् 'शंभु' नाम दिया। और स्थापनाके समय *'लिङ्ग थापि'* पद दिया। शिवजीकी मूर्तिको 'लिङ्ग' कहते हैं। अब यहाँ *'जे रामेश्वर दरसन करिहहिं'* कहकर जनाया कि इस मूर्तिका नाम रामेश्वर रखा गया। यह नामकरण हुआ। यह नामकरण करके गोस्वामीजीके *'सेवक स्वामि सखा सिय पी के।'* (१। १५। ४) इन शब्दोंको यहाँ चरितार्थ किया है। 'रामेश्वर' शब्दमें ये तीनों भाव तीन प्रकार—बहुव्रीहि, तत्पुरुष और कर्मधारयसे समास करनेसे आ जाते हैं। रा० प्र० में इसपर यह दोहा कहा है—*'राम कहत तत्पुरुष हैं बहुब्रीहि हर गाय। कर्मधारयैं मुनि निकर रामेश्वर पद पाय॥'* जो इस श्लोकका उलथा-सा है—**'रामस्तत्पुरुषं वक्ति बहुव्रीहिं महेश्वरः। ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे ब्रह्माद्याः कर्मधारयम्॥'** इसकी विशेष व्याख्या १। १५ (४) में की जा चुकी है।

टिप्पणी—१(क) श्रीरामजीने प्रथम कहा था कि शिवद्रोही मुझे नहीं पाता—***'सिवद्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहु मोहि न पावा॥'*** और यहाँ कहते हैं कि शिवभक्त मुझे पाते हैं—***'जे रामेश्वर दरसन करिहहिं।'*** हमारे लोकको जायँगे वहाँ हमारे दर्शन होंगे। (ख) दोहेके पीछे यह चौपाई लिखनेमें भाव यह है कि वहाँ जो कहा है कि ***'शंकरप्रिय मम द्रोही'*** और ***'शिवद्रोही मम दास'*** ये दोनों घोर नरक पाते हैं, उसीका यहाँ प्रायश्चित्त बताते हैं कि यदि ऐसे पापी भी रामेश्वरदर्शन करें तो नरकमें न पड़ेंगे वरन् मेरे धामको जायँगे। यहाँ 'प्रथम निदर्शना अलंकार' है।

टिप्पणी—२ ***'जो गङ्गाजल'*** इति। (क)यहाँ भगवान्‌की प्राप्ति दो प्रकारकी कही—एक सगुण एक निर्गुण। सगुणकी प्राप्ति कह चुके—***'ते तनु तजि मम लोक सिधरिहहिं'।*** अब निर्गुणकी प्राप्ति कहते हैं—***'सो साजुज्य मुक्ति ·····'।*** (ख) गङ्गाजल चढ़ानेसे सायुज्य मुक्तिकी प्रातिका भाव यह है कि गङ्गा ब्रह्मद्रव हैं, उसने शिवजीको जाकर ब्रह्मद्रवकी प्राप्ति करायी अतः आप भी ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त होता है। शिवजीकी मूर्तिका दर्शन किया इससे आप भी मूर्तिमान् होकर भगवत्-लोकमें वास करता है। [गङ्गाजल चढ़ानेसे वह प्रियाप्रियतमके भूषणोंमें मणि-माणिक्य और मुक्ता इत्यादि रूपसे युगल शरीरके स्पर्शसुखको अनुभव करेगा। (मा० म०)]

नोट—२ *'जो गंगाजलु आनि चढ़ाइहि'।* इति। यहाँ यह नियम नहीं किया कि गङ्गाजल कहाँसे लाकर चढ़ावे। मा० म० और पंजाबीजी लिखते हैं कि गङ्गोत्तरीका जल लाकर चढ़ावें और रा० प्र० का मत है कि जहाँ भी गङ्गाका प्रवाह है वहीं कहींसे ले जावे। परंतु इनके प्रमाण कोई नहीं दिये गये हैं। अध्यात्मरामायणमें